इतिहास चक्र

डा० लोहिया की दूसरी कृति

हिन्दू बनाम हिन्दू

हिन्दूस्तान के वर्णों और

वर्गों पर नए विचार

इतिहास चक्र

डा० राममनोहर लोहिया

प्रकाशन

मूल्य २)

प्रकाशक
लहर प्रकाशन २
इलाहाबाद

मुद्रक
पुरुषोत्तम प्रेस
कीटगंज, इलाहाबाद

१९५५ : प्रथम बार

अंग्रेजी से अनुवाद:
ओमप्रकाश दीपक

आमुख

श्री बद्री विशाल पित्ती के कहने और बाद में महादेव सिंह के उत्साहित करने पर मैंने १६५२ के बीच में हैदराबाद में कुछ भाषण दिये। वाई० एस० राव ने पांडुलिपि तैयार करने का कठिन काम अपने ऊपर लिया। इनमें से दो भाषणों को, जो डा० पी० श्री निवासाचार्य के सभापतित्व में दिये गये थे, मैं संशोधित और संपादित कर चुका हूं। बाकी को अपने समय का इन्तजार करना पड़ेगा।

आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्तों के बारे में अपने अब तक के प्रयत्नों के फल से सबक लूँ तो ऐतिहासिक सिद्धान्तों के बारे में अपने इस प्रयत्न को प्रकाशित कराने से बचना चाहिये था। लेकिन आशा अमर है।

इतिहास, यूनानी दुखान्त नाटकों के अटल तर्क की तरह चलता मालूम होता है। १६५३ के आखीर में, पाँच हफ़्तों की विदेश यात्रा के बाद मैं एक हवाई कम्पनी की बस पर जा रहा था जिसमें मेरे अलावा सभी गोरी चमड़ी वाले स्त्री पुरुष थे। वे हिन्दुस्तान के कीड़े मकोड़ों और उनके काटने से होने वाली बीमारियों की बड़े विस्तार से चर्चा कर रहे थे। मैं बड़ी देर तक चुप बैठा रहा, क्योंकि पूरी तरह तो नहीं, लेकिन काफी हद तक धीरज रखना मैंने सीख लिया है। एक मुखर और चपल महिला को मैंने काले नाग की बात बताई जिसके काटने का कोई इलाज नहीं। बस में कुछ लोगों को लगा कि मैं बहुत कड़ुआ हो कर बोल रहा हूं। मेरे अन्दर किसी तरह की कड़ुआहट न थी, हां इतिहास की कड़ुवी दुहरावट पर अधिक खेद जरूर था। मैंने उन लोगों से कहा कि हिन्दुस्तान सचमुच दुनियां का सबसे गरीब और गन्दा मुल्क है लेकिन मुमकिन है कि सौ बरस या कम समय में ही युरोप

और अमेरिका उससे जगह बदल लें। यह इतिहास का चक्र है। वह बिना भावना के चलता है। मेरे लोग और मेरा देश दो बार इतिहास की चोटी पर रह चुके हैं और मैं नहीं चाहता कि तीसरी बार फिर ऐसा हो। क्योंकि अगर हम तीसरी बार चोटी पर चढ़े तो यह भी तय है कि हम फिर नीचे गिरेंगे। यूनानियों और रोमवासियों को छोड़ कर, जो वास्तव में वर्त्तमान गोरी सभ्यता के अंग नहीं हैं, युरोप और अमेरिका वाले उतार चढ़ाव के इस खेल में नये हैं। उनका अपना कोई इतिहास नहीं है। उन्हें इतिहास के चक्र की याद दिलाये । यही सबसे बड़ी दुख की बात है। अगर हमेशा इस चक्र पर टूटने के बजाय मानव जाति के निश्चित सामीप्य हर मनुष्य इसे तोड़े, तो दुनियां में अब भी बुद्धिमानों की वह हंसी गूंज सकती है जो मैंने महात्मा गांधी से सुनी भी और ऐल्बर्ट आइन्सटाइन में जिसकी प्रतिध्वनि से मुझे खुशी हुई थी।

जिबरान मजदलानी, उनकी मां और उनका शोफर, तीनों ही अरब, और मैं एक बार बाइबिल की कहानियां से पवित्र पहाड़ियों और घाटियों से हो कर बेरुत से मश्क जा रहे थे। मोटर में एक बर्रे घुस आई। जिबरान की मां ने परेशान हो कर गाड़ी रुकवाई। बर्रे मेरे किनारे पर बैठ गई थी। मैंने एक कागज उठा लिया और धीरे से बर्रे को सरका कर खिड़की के बाहर निकाल देने की कोशिश की। जैसा होना था, बर्रे बार बार फिर अन्दर आ जाती। जिबरान की मां और भी परेशान हो गईं और उन्होंने मुझसे कहा कि मैं उसे मार दूं। मैंने उनसे कहा कि अपने आप ही कुछ दिनों में मर जायगी। उनका ख्याल था किमरने के पहिले वह किसी और को डंक मार देगी और उन्होंने मुझसे पूछा कि सांप होने पर मैं क्या करता। उन्हें यह बताने के बाद कि कीड़े और पशु तब तक हमला नहीं करते जब तक उन्हें छेड़ा न जाय या वे डर न जांय; मैंने उनसे पूछा कि अकारण डर या घृणा के कारण हमला करने वाले मनुष्यों के साथ वे क्या करेंगी। उन्होंने उत्तर दिया कि वे उन्हें भी

मारने का प्रयत्न करेंगी। मैंने उत्तर में कहा कि ऐसी सूरत में सारी मानव जाति को ही हमला करने से रोकने के लिये मारना प गा। इस समय जिबरान ने बीच में पड़कर अपनी माँ को हिन्दुस्तान और गांधी के बारे में बताया। बर्रे खिड़की से उड़ गई। बर्रों को वास्तव में बराबर खिड़की से बाहर निकालते रहना होगा और अगर इसमें कमी हुई तो उनके डंक, और उनके मारने वाले बढ़ते जायंगे। लेकिन अधिकांश जातियों को, मार कर नष्ट करना नामुमकिन है। पैदाइश रोकने पर वे नष्ट हो जाती हैं। कोई बम, हाइड्रोजन बम भी, मानव जाति को इस तरह नष्ट नहीं कर सकता कि उसकी पैदाइश रुक जाय। जीवित प्राणियों में जो बुराई है, उसे अचानक खतम नहीं किया जा सकता; अधिक से अधिक, उनकी पैदाइश रोकी जा सकती है। अतः बर्रों को बराबर खिड़की से बाहर निकालते रहना होगा और उनके पलने की जगहों को खोज कर साफ करते रहना होगा। क्या अपने भाग्य की बुराइयों के पलने की जगहों को खोज कर साफ करने में कभी मनुष्य को इतिहास के पढ़ने से सहायता मिलेगी?

राममनोहर लोहिया

इतिहास और उद्देश्य

बीस साल से ऊपर की बात है, बर्लिन यूनिवर्सिटी के जलपान-गृह में इतिहास के कुछ विद्यार्थी बैठे हुए थे। उनमें से कुछ मार्क्सवादी थे और कुछ हीगेल को मानने वाले और मैंने उनसे यह सवाल पूछा कि अपनी प्रौढ़ सभ्यता के बावजूद हिन्दुस्तान गुलाम कैसे हो गया। किसी में ज्ञान नहीं थी. जो इतिहास पढ़ने वालों के लिये उचित ही था और मार्क्सवादी ने उत्तर देने की चेष्टा की। उसने कहा कि हिन्दुस्तान में मंडियां गांव से बढ़कर राष्ट्र के पैमाने पर नहीं पहुंची; भूमिहीन मजदूर ज्यादा नहीं थे; शायद इसलिये कि बड़े पैमाने पर बेदखलियां नहीं होती थी; काफी मात्रा में व्यापारिक पूँजी नहीं थी जो उद्योग धंधो में लगती और अन्त में यह बात कि मेक्सिको और अन्य जगहों की लूट उसे नहीं मिली। जवाब काफी बढ़ा था और जहाँ तक असलियतों का सवाल है; कम या ज्यादा सही था। अंग्रेजों के हिन्दुस्तान पर कब्जा करने के पहिले: हमारी मंडियाँ आमतौर पर गाँवों की सतह की ही थीं और हमारे यहाँ भूमिहीन मजदूर ज्यादा नहीं थे। व्यापारिक पूँजी की बात पर बहस हो सकती है। फिर भी; मैंने अपने मार्क्सवादी सह-विद्यार्थी से पूछा कि ये बातें जो उसने गिनाईं; इंगलेन्ड और पश्चिमी युरोप के अन्य देशों में क्यों थीं और हिन्दुस्तान में क्यों नहीं थीं। इसका उसके पास कोई जवाब न था।

तब हीगेल को मानने वाले से कोशिश करने को कहा गया और उसने इतिहास की आत्मा के बारे में कुछ कहा कि किसी वजह से इतिहास की आत्मा उस समय हिन्दुस्तान के पक्ष में नहीं थी कि वह विदेशी हमले से बचाव कर सकता और लोग थके हुये थे। यह जवाब भी सन्तोषजनक नहीं था। इतिहास की दो ऐसी विचार धाराओं के, जो इतिहास की गति के बारे में आखिरी जवाब देने का दावा करती हैं, ये जवाब अजीब थे। बेशक: जहाँ तक चिन्हों की बात है; मार्क्सवादी ने अच्छा जवाब दिया था लेकिन इन चिन्हों के कारणों के बारे में वह उतने ही अंधेरे में था जितना किसी और विचार धारा को मानने वाला होता। अगर जोर दिया जाता तो मार्क्स वादी और हीगेलवादी दोनों ही शायद ज्यादा चतुराई से और ज्यादा रूखसाई से जवाब देते। मार्क्सवादी शायद कहता कि मानव इतिहास कुछ खास रास्तों पर चला है और किसी खास मौके पर अगर हिन्दुस्तान की हालत दूसरों की तरह अच्छी नहीं थी; तो इसका कोई महत्व नहीं। महत्व की बात यह है कि मनुष्य के पैदावार के तरीकों में बराबर एक हालत में तरक्की होती गई है। उस खास समय पश्चिमी युरोप हिन्दुस्तान से आगे बढ़ गया और जो कुछ मैंने पूछा था: उसका अधिक महत्व नहीं। इसी तरह हीगेलवादी शायद कहता कि हिन्दुस्तान के लोगों की प्रतिभा तत्वज्ञान, अराजकता और विचार के क्षेत्र में है। अराजकता जहाँ कुछ मौकों पर मानवी आत्मा और संगठन के बहुत बड़े कदमों में सहायक होती है; वहीं; दूसरे मौकों पर: खास तौर से जब लोग दुनिया के इतिहास में अपना हिस्सा अदा कर चुके हों और उनकी सृजनात्मक शक्तियाँ खतम हो गई हों; तो उससे बढ़ना रुक जाता है।

ये जवाब हमें इतिहास की गति के बारे में किसी तरह का कोई इशारा नहीं देते। यह सवाल अब भी रह गया कि एक खास मौके पर कुछ खास बातें एक देश में क्यों पैदा हुईं और दूसरे देश में क्यों नहीं हुईं? जो लोग

इस बारे में कोई नियम देना चाहते हैं; या कुछ रोशनी डालना चाहते हैं कि अलग अलग समयों में मनुष्य का विकास कैसे हुआ, उन्हें यह भी बताना होगा कि लोगों और वर्गों का उत्थान और पतन क्यों होता रहा है। अगर इसका कोई जवाब नहीं है, तो इतिहास के किसी नियम की बात करना बेकार है। चिन्हों का वर्णन करना और कारणों का पता लगाना, एक ही बात नहीं है।

मनुष्य की अलग अलग परिभाषाएँ की गई हैं। किसी भी विषय पर हम अधिकार के साथ कितना कम बोल सकते हैं यह इसी से जाहिर है कि मनुष्य की कोई ठीक परिभाषा नहीं। मनुष्य को अक्सर सोचने वाला पशु कहा गया है। उसका यह सन्देह करना कि वह सचमुच सोचता है या नहीं, उसकी सोचने की ताकत का एक अच्छा प्रमाण है। अगर ऐसा है तो उसके चेतन विचार किस हद तक उसके काम, याद और सम्बन्धों पर असर डालते हैं? उसे औजार बनाने वाला पशु भी कहा गया है और यह परिभाषा अधिकांश परिभाषाओं से अच्छी है। लेकिन मनुष्य में एक और खास गुण है, अपने और अपने सम्बन्धों का प्रति चेतना। चाहे ये सम्बन्ध जैसा कुछ लोग कहते और स्थापित करना चाहते हैं, ईश्वर के साथ हों, या दूसरे लोगों के अनुसार एक अनामा पूर्ण के साथ हों, यह बाद का सवाल है। असली बात है चेतना और इन सम्बन्धों की खासियतें।

जैसे ही मनुष्य में अपने प्रति चेतना आती है, यदि यह चेतना किसी भी समय आई हो, और उसमें पूर्ण से अपने अलगाव पर दुख की भावना और साथ ही अपने अस्तित्व पर सुख की भावना छा जाती है, और वह सोचने लगता है कि पूर्ण से अपने को कैसे मिलाये, उसी समय उद्देश्यों की खोज शुरू हो जाती है। ज़िन्दगी का अर्थ मालूम करने की कोशिश होती है और किसी समय मनुष्य यह पूछने लगता है कि क्या वह इतिहास के जरिये अपने उद्येश्यों को प्रकाश में ला रहा है। उसने अपनी चेतना

से यह अर्थ खोजे या आर्थिक अथवा अन्य किसी कारणों से ये विचार आये, यह विषय ऐसा है जिसकी खोज होनी चाहिये। लेकिन ये उद्येश्य और साथ ही जीवन का अर्थ, हमेशा से रहे हैं। 'मैं कहां से आया हूं, मुझे कहां जाना है, मैं क्यों और कैसे जीता हूं ?' और इस खोज में, जो मनुष्य के सारे इतिहास में उसके साथ रही मालूम पड़ती है, उसने संस्थाएँ बनाई हैं और तोड़ी हैं, उसने युद्ध किये हैं और शान्ति की सन्धियां की हैं और इस सारे विकास में उसने बार बार यह खोजना चाहा है कि क्या उन घटनाओं के द्वारा उसके जीवन का उद्येश्य पूरा हो सकता है, जो मिलकर इतिहास का क्रम बनाती हैं।

इतिहास की ऐसी विचार धारायें भी रही हैं जो यह मानती ही नहीं कि इतिहास में कोई नियम, उद्देश्य या क्रम है। उनका विचार है कि यह सब संयोग और अज्ञात का खेल है। कुछ होता है—क्यों होता है, यह कोई नहीं जानता। हम सिर्फ इतना कर सकते हैं कि सभी असलियतों को इकट्ठा करें, उन्हें एक लड़ी में पिरोयें और जो कुछ हुआ है, शायद उसका एक दिलचस्प विवरण दे सकें। ऐसा विचार मान्य है या नहीं, यह विचारकों के लिये छोड़ा जा सकता है। मुझे इस विचार धारा में दिलचस्पी नहीं होगी। क्योंकि इससे मुझे विचार का कोई ऐसा साधन, कोई औज़ार नहीं मिल सकता जिससे मैं काम कर सकूं। लेकिन विषय का अध्ययन करते हुए यह बात दिमाग के पीछे रखना चाहिये कि ऐसे भी विद्वान लोग हैं जो इतिहास में कोई उद्येश्य और क्रम मानते ही नहीं। ऐसे क्रम की खोज करने की कोशिश करते हुए भी, हम हमेशा याद रखें कि बहुत से लोगों की राय में हमारी खोज बेकार है।

उद्देश्यों और व्याख्याओं की बात कौन करे; इतिहास की असलियतों, केवल भारतीय इतिहास की ही नहीं, को इकट्ठा करना भी कठिन है। मैं बहुत अधिक यह जानना चाहूंगा कि बुद्ध के मन में उस समय क्या भावनायें

थीं जब उस काल की सबसे अच्छी नर्त्तकी का परिचय उनसे कराया गया और उसने उनके संघ में प्रवेश पाने की अनुमति मांगी। क्या उनके मन में जरा सा भी कम्पन हुआ जब समय की सबसे सुसंस्कृत महिला ने संघ में प्रवेश करने की अनुनति मांगी? हम नहीं जानते, और न कभी जान सकते हैं क्यों कि बुद्ध के सिवाय किसी ने नहीं जाना कि क्या हुआ, या शायद बुद्ध ने भी नहीं जाना कि क्या हुआ। क्लियोपैट्रा के मन में क्या भाव उठे जब उसके प्रेम में सीजर की जगह ऐन्टोनी ने ले ली? ईसा की भी मैग्डेलीन थी। इन लोगों की, जिन्होंने न सिर्फ अपने काल में, बल्कि हमेशा के लिये, मनुष्यों के दिमाग पर इतना असर डाला, सचमुच क्या भावनायें थीं, यह इतिहास से हमेशा छिपा रहेगा।

हिन्दुस्तान में वर्ण व्यवस्था कैसे बनी, क्या पूरी जातियों को जीत कर अलग अलग वर्णों के रूप में वर्ण व्यवस्था में मिला लिया गया, यह हिन्दुस्तान के इतिहासकारों को अज्ञात है क्योंकि असलियतों का पता नहीं दुनियां के सभी लोगों का शुरुआत का इतिहास रहस्य और काल्पनिक कथाओं में छिपा हुआ है। जातियों के इधर उधर जाने, आपस में टकराने और महाद्वीपों में बसने आदि के बारे में बिखरे हुए पुरातत्व और साहित्य के प्रमाणों से ही जानकारी हासिल की गई है और उसमें अभी बहुत कुछ काल्पनिक और अनिश्चित है। मनुष्य के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए, यह याद रखना अच्छा होगा कि ऐतिहासिक खोज में अभी बहुतेरी असलियतों का पता लगाना है और इनमें से कुछ ऐसी हैं जिनका पता लग ही नहीं सकता। प्रमाणों और असलियतों का आपसी विरोध कुछ मामलों में ऐसा है जो तय ही नहीं किया जा सकता। जब बाहरी बातों और घटनाओं की असलियतों के बारे में यह हाल तो उन सूक्ष्म भावनाओं और उद्येश्यों के बारे में क्या कहा जाय, जिन्होंने इतिहास के महान पुरुषों पर असर डाला, लेकिन जो या तो अवचेतन में थे या हम तक उनकी जानकारी नहीं

पहुंची, और जो जीवन के उद्देश्यों और कर्मों को समझने के लिये बहुतही महत्वपूर्ण हैं। फिर भी इतिहास के दर्शन की खोज जारी रहेगी, लेकिन कुछ नम्रता के साथ।

चक्र सिद्धान्त

इतिहास के बिल्कुल शुद्ध चक्र-सिद्धांत से हिन्दुस्तानी परिचित हैं। उसमें सतयुग से कलियुग तक चार युग बताये गये हैं और त्रेता व द्वापर इनके बीच में आते हैं। एक प्रकार का स्वर्ण युग जो दो सीढ़ियों से होकर गिरता हुआ अन्धकार के युग तक जाता है। इतिहास का यह दृष्टिकोण उत्थान और पतन दोनों को मानता है और पतन के बाद फिर उत्थान को मानता है। यह मनुष्य की जिन्दगी से मिलता मालूम पड़ता है। जिसमें लोग बुराई से अपनी लड़ाई में जीतते हैं, महानता और शक्ति, अच्छाई, या सचाई, या सुन्दरता की चोटियों पर पहुंचते हैं और तब आत्मा थक जाती है। वे फिर बिखराव और कमजोरी और उद्देश्य हीनता में गिरने लगते हैं और फिर अन्धेरे के बाद की अनिवार्य रोशनी के जरिये आत्मा खिलती है और फिर उठना मुमकिन होता है। इतिहास के इस हिन्दू दृष्टिकोण ने अपना महत्व बहुत कुछ नष्ट कर लिया है और जो कुछ दूसरी सभ्यताओं ने इतिहास से खोजने की कोशिश की या अब भी कर रही हैं उसे दर्शन या धर्म मान लिया है। जहां इससे जीवन के शाश्वत पहलुओं के बारे में बड़ी दिलचस्पी पैदा हुई, वहां जो नश्वर है, उसकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। नतीजे के तौर पर हिन्दुस्तानी दिमाग अक्सर निष्क्रियता या आडम्बर में गिर गया। एक कोशिश इसकी भी होती है कि इतिहास के

इस गम्भीर और मूल्यावान दृष्टिकोण को रूपक मानकर लोगों की जिन्दगी के चक्र के चार युगों को गिरती हुई अच्छाई के विभिन्न गुणों में बदल दिया जाय। इन युगों के संस्कृत नाम गणित के अङ्कों पर आधारित हैं, कलि एक है और सत चार। इतिहास को एक शुद्ध चक्र सिद्धांत की ऐसी रूपक व्याख्या न सही है और न उसके नतीजे अच्छे होते हैं। इस दृष्टिकोण का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह भौतिक घटनाओं, को अच्छी और बुरी, दोनों को ही अस्थायी मानता है। बुराई भी कायम नहीं रहती और शक्ति खतम होने के बाद किन्हीं लोगों का गिरना जितना अनिवार्य है, उनका उठना भी उतना ही अनिवार्य है। यह कहने की जरूरत नहीं कि हर युग को एक निश्चित अवधि दी गई है, जो काल्पनिक अधिक है, ऐतिहासिक कम। लेकिन हिन्दुस्तान के ऋषियों को साधुवाद कि उन्होंने गिरावट के हर युग को उसके पिछले युग का आधा समय ही दिया।

इतिहास के चक्र सिद्धान्त केवल हिन्दुस्तानी दिमाग की ही खासियत नहीं हैं। मौजूदा शताब्दी में ये पश्चिमी युरोप और अमेरिका में भी प्रकट हुए हैं: यद्यपि बिना मिलावट के नहीं। ये एक प्रौढ़ या गिरती हुई सभ्यता चचन्ह मालूम पड़ते हैं क्योंकि स्वस्थ युवावस्था कुछ उनकी बिरोधी होती है। मनुष्य के भाग्य की गति के क्रम और उसकी अवधियों का पता लगाने की एक बड़ी कोशिश आज हो रही है। कहा जाता है कि सभी मानवी सभ्यतायें क्रम से आने वाली इन अवधियों से गुजरती हैं। मिसाल के लिये कहा गया है कि किसी भी सभ्यता में एक के बाद एक वस्तुकला, मूर्तिकला चित्रकला और संगीत का क्रम से विकास होता है। कुछ लोग तो यहां तक चले गये हैं कि उनकी राय में सारे मानव इतिहास में ऐसा ही क्रम मिलता है अर्थात् सब से पुरानी सभ्यता में वस्तुकला की और मौजूदा सभ्यता में संगीत की प्रधानता है। सभ्यता में कला के चक्र सिद्धान्त के पक्ष में काफी प्रमाण है लेकिन इस क्रम की अनिवार्यता में बड़ा

शक हैं। इसकी भी गंभीरता से कोशिश हो रही है कि सभ्यताओं को उनकी क्रमिक अवधियों में देखा जाय और उनका आपस में मिलान किया जाय। उदाहरण के लिये, कहा जाता है एक सभ्यता अपने अन्तिम काल में दूसरी सभ्यता के अन्तिम काल से अधिक मिलती जुलती है, चाहे उनके बीच दर्मियां शताब्दियों का फर्क हो, बनिस्बत स्वयम् अपने आरम्भिक काल के। इस प्रकार, यह विश्वास किया जाता है कि सभी सभ्यताओं में भाषा और बर्ताव, और जिन्दगी के तरीके और उद्देश्य बुनियादी तौर पर एक ही ढंग से विकसित और प्रौढ़ होते हैं। सभ्यताओं का जीवन काल तय करने की कोशिश की गई है कि वे कितनी बार अपने ऊपर आने वाले संकटों का मुकाबला कर सकती हैं और अन्त में कब उनका ह्रास होता है। मनुष्य के इतिहास का दर्शन करीब-करीब ज्योतिष, की तरह होता जा रहा है। लेकिन इतिहास का विश्लेषण करने वालोंके लिये यह याद रखना अच्छा होगा कि अगर सभ्यता वहन करने वालों के रूप में लोगों और इतिहासिक समूहों के बारे में और सारी मानव सभ्यता और उसकी सांस्कृतिक श्रेणियों के लिये यह सच है कि 'जो पैदा हुआ है, वह मरेगा, तो यह भी उतना ही सच है कि 'जो मरता है वह फिर पैदा होगा।'

इतिहास के इन चक्र सिद्धान्तों में से अधिकांश की बातों में चाहे सार्व-भौमिक सचाई न हो, ये निश्चय ही पहिले के एक ही दिशा में प्रगति मानने वाले सिद्धान्तों की अपेक्षा सचाई के ज्यादा नजदीक हैं और इतिहास के अध्ययन में इनकी बड़ी देन है। अपनी शताब्दी को मनुष्य की प्रगति का अन्तिम रूप बनाने और पश्चिमी सभ्यता को दुनियाँ का केन्द्र और पहिले की सभी सभ्यताओं का मापदन्ड बनाने की अज्ञानपूर्ण आशा कम से कम पश्चिमी युरोप और अमेरिका की यूनीवर्सिटियों की उच्च श्रेणियों में खतम हो रही है। दुनियाँ के इतिहास को प्राचीन, मध्य और आधुनिक कालों में बांटना उनमें एक अबाध या रुक रुक कर हुआ उत्थान बताना, सांस्कृतिक बर्बरता है, जो दिलचस्प भी नहीं है। दूसरों के अलावा स्पेंगलर, रायनबी,

नार्थराय और सोरोकिन ने इस बर्बरता का अन्त करने की कोशिश की है, चाहे सभ्यता की गति के क्रमों की खोज करने में उन्होंने जो भी गलतियां की हों। उनके अध्ययनों से निश्चय ही ऐतिहासिक सत्यों के वर्गीकरण के बहुमूल्य तरीके मिले हैं। सही ढंग से वर्गीकरण कर पाना, किसी बात को समझने का पहिला कदम है।

जिन तत्वों से मिल कर संस्कृति बनती है उन्हें अलग करके उनका वर्गीकरण करने की कोशिश हुई है। मिसाल के लिए स्पेंगलर ने एक ओर आज की बौद्धिक और निरीक्षणात्मक संस्कृतियों को रखा है, जो उसकी राय में जकड़ी हुई हैं, और इनके विरोध में उसने पहिले की तत्कालिक अन्तर्ज्ञान वाली सभ्यताओं को रखा है। नार्थराय ने भी संस्कृति के सिद्धांतिक वैज्ञानिक तत्वों को उसके अन्तर्ज्ञान और सौन्दर्य चेतना सम्बन्धी तत्वों से अलग करने की कोशिश की है और कुछ प्रमाणों के साथ पश्चिम में पहिले और पूर्व में दूसरे का प्राधान्य दिखाया है। सोरोकिन का विश्लेषण ज्यादा अच्छा मालूम पड़ता है क्योंकि उसने ज्यादा अच्छी तरह छांट कर इन तत्वों को तीन वर्गों, विचार, आदर्श, और इन्द्रिय सम्बन्धी, में बांटा है। ऐसे विश्लेषणों से इन तत्वों में जो आपसी विरोध मालूम पड़ता है, वह कुछ गलत है क्योंकि हर सभ्यता में ये सभी तत्व रहते हैं। यह सम्भव है कि कोई एक तत्व प्रधान हो और दूसरे गौण और उनकी स्थिति में बदलाव होता रहे। एक के बजाय दूसरे तत्व की प्रधानता सिर्फ दो अलग-अलग सभ्यताओं में हो सकती है, बल्कि एक ही सभ्यता की अलग-अलग अवधियों में भी हो सकती है। यह भी हो सकता है कि कोई खास लोग। अपने इतिहास के द्वारा किसी एक प्रधान तत्व का वहन करने में विशेष उपयुक्त हो जांय। उदाहरण के लिए हिन्दुस्तानियों के बारे में विश्वास किया जाता है कि अन्तर्ज्ञानी-रहस्यवादी संस्कृति के प्रति उनका खास रुझान है।

किसी संस्कृति में आने वाले बदलाव की रफ्तार मालूम करने के लिये भी काफी प्रमाण इकट्ठा किया गया है। जिससे मालूम होता है कि बौद्धिक संस्कृतियों की अपेक्षा अन्तर्ज्ञानात्मक संस्कृतियां धीरे-धीरे बदलती हैं। सांस्कृतिक मिश्रण की सम्भावनाओं पर भी गौर किया गया है। इन ऐतिहासिक दर्शनों ने इतिहास का विश्लेषण करने और उन्हें समझने के मूल्यवान साधन हमें दिये हैं लेकिन इतिहास के चक्र की दुहरावट को ये पूरी तरह नहीं मानते और उनकी प्रौढ़ सभ्यता आज जिस संकट में पड़ गई है, हमेशा उससे निकलने का कोई रास्ता खोजते हैं। स्पेंगलर ने भी बराबर इस बात की कोशिश की कि उस अंधेरे से निकलने का रास्ता खोजें जो पश्चिम में छा गया है। लेकिन अधिकांश ऐसी कोशिशें बड़ी कमजोर, अवैज्ञानिक और अज्ञानपूर्ण हैं, चाहे वे जितना भी अपने को एकतावादी आदि कहें। हम इस बात के लिये उनकी तारीफ कर सकते हैं कि वे एकता की जरूरत को महसूस करते हैं लेकिन ऐसी एकता के प्रति किसी तर्क पूर्ण दृष्टिकोण की कमी है। आध्यात्मिक और बौद्धिक का लम्बे इतिहासों के बाद जो रूप बना उन्हीं रूपों में और इस ढंग से उन्हें मिलाने की कोशिश होती है कि मिलाने वालों को सचमुच सामाजिक दर्शन के लाइसेन्सो कहा जा सकता है। आधुनिक सभ्यता के सैद्धान्तिक तत्वों की कलम पूर्व सभ्यताओं के अन्तर्ज्ञानात्मक तत्वों पर लगाना, या साधारण भाषा में पूर्व की आध्यात्मिकता को पश्चिम के विज्ञान से मिलाना, बिल्कुल बेकार कोशिश है।

ल्यूइस ममफोर्ड और मार्टिन बुबर जैसे लोगों ने सच्ची एकता की ओर महत्वपूर्ण प्रगति की है लेकिन उनका झुकाव सौन्दर्यात्मकता या धार्मिक पक्ष की ओर अधिक है और उन्होंने बुद्धिवादी भाषा में इसे ठीक से नहीं बदला। कायम रहने के लिये अन्तर्ज्ञान को ऐसी भाषा और ऐसे विचार बनाने होंगे जिनकी बौद्धिकता और आध्यात्मिकता आपस में बदली जा सकें। युरोप के दिमाग ने ममफोर्ड और बुबर को छोड़कर स्पेंगलर या रायनबी को अपनाया है, इससे यह खतरा मालूम होता है कि अपने में ही केन्द्रित

रहना हर संस्कृति की एक बड़ी विशेषता है और उसका बुनियादी गुण है कि खेद प्रकट करके या अन्य चतुर तरीकों से अपने को बचावे। ऐसा अन्तर्ज्ञान, जो अपने से बाहर की असलियतों को बुद्धिपूर्वक स्वीकार कर ले, बहुत कम मिलता है।

कुछ समय पहिले पश्चिमी युरोप में ओस्वाल्ड स्पेंगलर का चक्र सिद्धान्त फैशन में था। ऐतिहासिक व्याख्याओं में भी फैशन होते हैं जिसने पश्चिम के पतन पर लिखा था, और जिस का विचार था कि हर संस्कृति और सभ्यता जन्म, विकास और मरण, बसन्त, गर्मी, पतझड़ और सर्दी की विभिन्न सीढ़ियों से होकर गुजरती है, इससे बचने का कोई रास्ता नहीं कि हर संस्कृति गिरावट में आकर पहिले सभ्यता का रूप लेती है और तब खतम हो जाती है। हर संस्कृति, चाहे वह कितनी भी ऊंची क्यों न उठ जाय अवश्य ही नष्ट हो कर दूसरी को जगह देगी। मैं स्पेंगलर का सिर्फ एक उदाहरण दूंगा जिसमें उसने लोगों के उत्थान और पतन का फर्क बताया है। उत्थान में संस्कृति होती है और पतन में सभ्यता। संस्कृति की अवधि में लोग एक या दो मंजिले मकान बनाते हैं जो वातावरण में मिल जाते हैं और आस-पास की प्रकृति का ही अंग मालूम पड़ते हैं। सभ्यता की अवधि में पांच या छ या और भी ज्यादा मंजिलों के मकान बनाये जाते हैं, जो पृथ्वी के साथ अनाचार है।

इतिहास के ऐसे दर्शनों ने जो पश्चिमी सभ्यता के कायल हैं, एक ही दिशा में लगातार या रुक-रुक कर हुई प्रगति को मान लिया है। ऐसे लोगों का कोई खास जिक्र करने की जरूरत नहीं जिनकी राय में मनुष्य एक पुरातन स्वर्ण युग से बराबर गिरता चला आ रहा है क्योंकि इनका कोई आम या स्थायी असर नहीं पड़ा। बराबर बदलते हुये मशीनी ढंग ने, जो पश्चिमी सभ्यता और पूंजीवादी आर्थिक संगठन की विशेषता है, पश्चिमी मनुष्य में भी अपने भविष्य के प्रति एक स्वस्थ विश्वास पैदा कर दिया। हर आदमी

अपना स्वार्थ चाहता है, और सब लोगों के स्वार्थ साधन से सभी का ज्यादा से ज्यादा भला होगा, पूंजीवाद की इस प्रारम्भिक मान्यता को मशीनों में बराबर सुधार होते रहने की सम्भावना से उत्साह मिला। जब पूंजीवाद के आरम्भ में बच्चों से काम लेना, राष्ट्रों में आपसी युद्ध और घोर शोषण का बोल बाला था, जैसा आज भी है, तब भी इस सिद्धान्त की राय थी कि ये सब अस्थायी घटनायें हैं और जब औद्योगीकरण पूरा हो जायगा, जब उद्योग धन्धे और खेती से हर जगह मनुष्य की जरूरतें पूरी होने लगेंगी और दोष-रहित स्पर्द्धा का राज्य होगा, तो दुनियां में सभी मनुष्यों के लिये शान्ति और समृद्धि होगी।

अर्थशास्त्र में आदम स्मिथ और उनके बाद के विद्वानों ने वियोजक तर्कों का एक विशाल ढांचा खड़ा करके इस स्वस्थ विश्वास को कायम रखा। राजनीति में यह विश्वास प्रतिनिधि लोकतन्त्र और बेन्थाम की कृतियों से जीवित रहा। समाज शास्त्र में यह विश्वास किया जाता था कि मनुष्य पहिले के कबायली; आस्तिक और तत्व ज्ञानात्मक आधारों से होकर आधुनिक नैश्चित्यवाद तक काम्टे और स्पेन्सर में प्रतिबिम्बत विश्वास तक पहुंचा है। जर्मनों ने इस विश्वास को इस भावना के कठिन क्षेत्रों में ले जाकर दर्शन का खास तौर पर ऐतिहासिक दर्शन को एक विशाल ढांचा प्रदान किया। हीगेल और फिश्ते ने अपने अपने ढंग से मनुष्य की एक के बाद एक आने वाली संस्थाओं में मूर्त; जिनमें राज्य सर्व श्रेष्ठ है; इतिहास की आत्मा के निरन्तर उत्थान से स्वर्ग को पृथ्वी पर उतार दिया।

अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और इतिहास के इन दृष्टिकोणों में कोई भी न्यायसंगत नहीं है। लेकिन इनकी अस्वीकृति के बाद भी ये आधुनिक दिमाग का एक अंग बन गये हैं। जहां भी, जैसे अमेरिका में, पश्चिमी सभ्यता की शक्ति और महानता में रुकावट नहीं आई है, निरन्तर प्रगति में बड़ा विश्वास है। जहां भी, जैसे सोवियट रूस में, इस सभ्यता की शक्ति

और महानता देखने में बढ़ती नज़र आती हैं, वहां भी इतिहास के द्वारा मनुष्य की निरन्तर प्रगति में उतना ही विश्वास है। कम्युनिज़्म के प्रणेता काल मार्क्स ने अर्थशास्त्र का एक ऐसा सिद्धांत निरूपित किया जो देखने में आदम स्मिथ के बिल्कुल उलटा मालूम होता है। उसी तरह उसका इतिहास का दर्शन हीगेल का उलटा मालूम होता है। वह पूरी तरह प्रगति में विश्वास के पैगम्बर थे। उनके सिद्धांत उतने ही असंगत हो सकते हैं जितने १८ वीं और १९ वीं सदी के अन्य युरोपीय विद्वानों के, लेकिन उनके विपरीत मार्क्स का मनुष्य के दिमाग पर सीधा और गहरा असर पड़ता है। यह असर चाहे उन इलाकों में उतना ज़्यादा न हो जिनके लिये उसने अपना सिद्धांत मुख्यतः निरूपित किया था, लेकिन इतिहास और तर्क के एक अजीब पेंच से यह पश्चिमी सभ्यता द्वारा गुलाम और अछूत बनाये गये लोगों के दिमाग में जम गया है। उसका काम है पश्चिमी युरोप और अमेरिका के बड़े हिस्सों में निराशा पैदा करना। लेकिन इसके बजाय उसने उनको एक स्वर्ण युग का सपना देखने में सहायता की है, बहुत दूर भी नहीं है।

पश्चिमी युरोप में १९ वीं सदी में आम तौर पर प्रगति में विश्वास मिलता था, और आज भी यह विश्वास इतिहास के नये दृष्टिकोणों में मिलता है, हालां कि बड़ी नम्रता के साथ। अन्तिम दृष्टिकोण टोयनबी का है और उनके पहिले स्पेन्गलर का। अर्नाल्ड टोयनबी का विचार यह मालूम पड़ता है कि इतिहास में जिन चीजों के बारे में हम बहुत अधिक पढ़ते हैं, बड़े राजनीतिज्ञों, सम्राटों, योद्धाओं और सेनापतियों के कारनामे, बड़े साम्राज्यों का निर्माण, या महान वास्तुकला या मूर्तिकला का विकास, ये वास्तव में मनुष्य की ज़िन्दगी के महान युग नहीं हैं। उसके विचार से इतिहास में महानता तब आती है जब गिरावट और बिखराव आता है जो मनुष्य की सच्ची ज़रूरतों को पूरा करने वाले महान धर्मों को जन्म देता है। टायनबी के लिये मनुष्य की महानता के युग वे नहीं हैं जब साम्राज्य बने, बल्कि वे

है जब इस्लाम, ईसाई और बौद्ध जैसे महान धर्म पैदा हुये और फैले। निराशा के इन्हीं युगों में मनुष्य बाहरी दुनियां, सारी सृष्टि, प्रकृति और अन्य मनुष्यों के साथ अपने सम्बन्धों के बारे में सोचना शुरू करता है। इतिहास का यह दृष्टिकोण चक्र सिद्धांत से मिलता जुलता है। क्योंकि, टोयनबी के अनुसार कला और विज्ञान, मशीन और उद्योगधंधो में आज जो प्रगति हुई है, वह उस गिरावट, दमन और बिखराव के साथ जो बहुत दिनों से है और जो आज उद्देश्य हीनता से प्रकट है। प्रतीत होता है जैसे बड़े महत्वपूर्ण दिन के बाद की यह अन्धेरी रात है, लेकिन सुबह अभी दूर है। लेकिन टोयनबी अपने सुनहरे भविष्य को वर्तमान युग और ईसाइयत के प्रचार के साथ बांध देता है जो प्रगति का वही एकांगी दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार आज की सत्ताधारी पश्चिमी सभ्यता कल की नयी विश्व व्यवस्था बन जायगी। उनका कुछ ऐसा विचार है कि मनुष्य को अब तक जितने धर्म मिले हैं, उनमें चूंकि ईसाई धर्म सबसे अधिक सन्तोषजनक है और सिद्धांत में उससे बेहतर कुछ मुमकिन भी नहीं, अतः कुछ सीमा तक इस्लाम से मिल कर वह सारी दुनियां में फैल जायगा जिससे मनुष्य को आन्तरिक शान्ति मिलेगी, अपने वातावरण के साथ उसका मेल जोल होगा और साथ ही विश्व शान्ति की भी स्थापना हो सकेगी। जहां तक आधुनिक मनुष्य की बनाई हुई अन्य चीज़ें, सरकार के अलग अलग ढंग और आर्थिक ढांचों तथा दुनियां के एक हिस्से के दूसरे से अधिक अमीर और शक्ति शाली होने का सवाल है, टोयनबी के अनुसार इतिहास अपनी राह पर चलेगा। मुझे शक है कि उनकी राय में पूंजीवाद का मौजूदा युग, शायद अपने लड़ाकू रूप में नहीं, बल्कि उस रूप में जिसकी रूप रेखा रूजवेल्ट आदि लोगों ने और युरोपीय समाजवादियों ने प्रस्तुत करने की कोशिश की है, या उनके अपने शब्दों मे पश्चिमी सभ्यता, एक ऐसी दुनिया में बढ़ सकेगी जिसमें से युद्ध और गरीबी खतम हो जायगे, बशर्ते कि वह आन्तरिक शांति प्राप्त करने के लिये ईसाइयत के साधन को अपनायें।

इतिहास का यह दृष्टिकोण काफी प्रभाव रखता है कि आधुनिक मनुष्य अपने उद्योग-धन्धों, मशीन खेती, लोकतान्त्रिक सरकार और विभिन्न राष्ट्रों के बीच मेल जोल या शक्ति सन्तुलन के साथ अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा, अगर उसे ईसाइयत जैसे महान धर्म की बड़ी सहायता मिले, लेकिन मैं इसे इतिहास के उन्हीं दृष्टिकोणों के बीच रखूँगा जो दोनों लोकों को, उन्नीसवीं सदी के युरोप के एकांगी प्रगति के दृष्टिकोण और चक्र सिद्धांत की निष्पक्षता को मिलाना चाहते हैं।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

कार्ल मार्क्स के इतिहास के दृष्टिकोण के अनुसार, मनुष्य विभिन्न अवधियों से होकर गुजरा है। चाहे वह जान बूझकर ऊपर न उठा हो और चाहे उसका उत्थान अबाध न रहा हो, लेकिन इतिहास में कोई ऐसी शक्ति रही है जो मनुष्य को धीरे धीरे पुरानी जंगली या पिछड़ी हालतों से उठा कर आज की दशा में ले आई है। यह किस प्रकार हुआ है, यह बहुत साफ बताया गया है और कोई मार्क्स पर अस्पष्टता का आरोप नहीं लगा सकता। मनुष्य मोटे तौर पर चार युगों से गुजरा है: आदि साम्यवादी दास युग जब कठोर निरंकुशता थी, सामंती युग और अब पूँजीवादी युग से गुजर रहा है। पहिले युग को हम छोड़ सकते हैं क्योंकि वह इतिहास के पहिले का है। इन सभी युगों में इतिहास की एक गति रही है, पैदावार के विकसित होते हुये तरीकों से बनने वाला इतिहास का एक नियम रहा है। पैदावार के इन सभी अलग अलग तरीकों और ढंगों में एक ओर पैदावार की शक्तियों और दूसरी ओर पैदावार के सम्बन्धों में, औजारों और

उनके इस्तेमाल के ढंग और मिल्कियत रिश्तों में बराबर संघर्ष होता रहा है। ये दो फिकरे, 'पैदावार की शक्तियां' और 'पैदावार के सम्बन्ध', मार्क्स के इतिहास सम्बन्धी विचारों में सबसे महत्वपूर्ण हैं। उनमें टकराव होने से वर्ग संघर्ष होता है। मार्क्स का कहना है कि अब तक का सारा मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है।

यह संघर्ष मनुष्य के सारे इतिहास में चलता रहा है और उसकी अलग अलग शक्लें रही हैं। सामंती युग का वर्ग संघर्ष पूंजीवादी युग के वर्ग संघर्ष से भिन्न है, लेकिन इन अलग अलग युग में विभिन्न वर्ग होते हैं; यह निश्चित है और उनमें संघर्ष होता है; इसमें भी कोई शक नहीं। संघर्ष का लक्ष्य होता है पैदावार की शक्तियों और साधनों को मुक्त करना; जो तत्कालीन सभ्यता में प्रचलित मल्कियत के खास ढांचे के कारण दबे रहते हैं। सामंत शाह : भूस्वामियों की मल्कियत लादती है और पैदावार को एक सीमा के आगे नहीं बढ़ने देती और उस युग का सम्बन्धित वर्ग उठ कर उस व्यवस्था को तोड़ता है। उसी प्रकार पूंजीवादी युग में मिल्कियत और उसके मुनाफों के कानून औद्योगीकरण के तरीकों और विज्ञान का उपयोग उद्योग-धन्धों और खेती में पूरी तरह नहीं होने देते। पैदावार की शक्तियां कैद रहती हैं जब तक मजदूर वर्ग काफी शक्ति शाली और संगठित नहीं हो जाता कि मिलकियत के सम्बन्धों को तोड़े और उन्हें मुक्त करे। इसका मनुष्य के दिमाग और उसकी कामना से कोई खास मतलब नहीं। यह समाज में अपने आप होता रहता है। मनुष्य इसकी इच्छा करता है, क्यों कि ऐसी शक्तियां हैं, जो उसे ऐसा करने के लिये मजबूर करती हैं। इतिहास का सारा विकास पैदावार में तरीकों के घेरों में रख दिया गया है, जिसमें दो ताकतें; पैदावार की शक्तियां और पैदावार के सम्बन्ध: आपस में लड़ते रहते हैं।

केवल यूरोप का ही नहीं; बल्कि सारी दुनियां का इतिहास इन तीन या

चार युगों में बांटा जा सकता है; इसमें गहरा शक है। यह साबित करने के लिये कि दास युग की निरंकुशता हिन्दुस्तान में भी थी; असलियतों को बहुत अधिक तोड़ना मरोड़ना पड़ेगा। यह साबित करने के लिये भी असलियतों को तोड़ना मरोड़ना पड़ेगा कि किसी खास अवधि में सारी दुनियां में सामंती सभ्यता थी; चाहे विभिन्न क्षेत्रों के लिये समय का कितना भी अन्तर क्यों न मान लिया जाय।

मनुष्य के इतिहास को इन तीन या चार सधर्मी युगों में बांटने के लिये असलियतों को जिस तरह तोड़ना-मोड़ना पड़ेगा, उसके अलावा, मार्क्स द्वारा निरूपित इतिहास के सिद्धान्तों की प्रयोगात्मक जांच उसकी भविष्यवाणियों और यथार्थ घटनाओं से की जा सकती है। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के अनुसार पूंजीवाद स्वयं ही अपने नाश करने वाले को जन्म देता है। अपनी बढ़ोत्तरी और विकास में, पूंजीवाद एक ओर तो पूंजी को केन्द्रित करता है और दूसरी ओर मज़दूरों का समाजीकरण करता है, एक ओर तो बड़े बड़े पूंजी पति होते हैं, अर्थ तन्त्र पर जिनकी मिल्कियत और अधिकार बराबर बढ़ते जाते हैं और दूसरी ओर विशाल संख्या में मजदूर संगठित होते हैं, न सिर्फ अपनी इच्छा से बल्कि मुख्यतः इस कारण कि केन्द्रित पूंजी से बड़े कारखाने खुलते हैं जहां हजारों मजदूरों को एक साथ एक ही जगह काम करना होता है। साथ ही मजदूरों का शोषण बढ़ता है और अनिवार्य वही उनकी गरीबी भी बढ़ती है। यह पूंजी का केन्द्रीकरण और मजदूरों का समाजीकरण साथ साथ चलता जाता है जब तक कि मज़दूरों का समाजीकरण इतना काफी नहीं हो जाता कि वे आर्थिक ढांचे पर पूंजीपतियों का शिकंजा तोड़ दें, मालिक मज़दूर का रिश्ता खतम हो जाय, साम्यवादी या समाजवादी व्यवस्था कायम हो जाय, और विज्ञान मुक्त हो जाय ताकि उद्योग धन्धों और खेती में उसका पूरा उपभोग किया जा सके। क्या नजदीक से जांच करने पर यह सिद्धान्त ठहर पाता है?

पूंजी का केन्द्रीकरण हुआ है लेकिन क्या मज़दूरों का समाजीकरण और उनकी बढ़ती हुई गरीबी भी सच है? मार्क्स द्वारा निरूपति सभ्यता के उस लौह नियम का क्या हुआ कि वर्ग संघर्ष इस प्रकार होगा कि पूंजीवादी दुनिया के। महान स्वामी हीं समाजवादी दुनिया की शुरूआत करने वाले और उसे जन्म देने वाले होंगे? अगर मार्क्स और एंगेल्स के उदाहरण दिये जा सकते हैं कि एक या दो स्थानों पर उन्होंने रूस में क्रांति की संभावनाओं को माना है, तो अधिकांश समय वे जर्मनी और इंगलैण्ड में ही क्रांति की भविष्यवाणियां करते रहे और इधर-उधर के इन उदाहरणों का कोई विशेष महत्व नहीं। इस तरह की कोशिशें महज़ शास्त्रीय हैं क्योंकि इन लोगों ने इतना अधिक लिखा है कि उसमें से तरह तरह के उदाहरण दिये जा सकते हैं। और, किसी भी दशा में, कम्युनिस्ट क्रांतियों के मार्क्सवादी कार्यक्रम में चीन का स्थान कभी नहीं था। अतः अब इधर उधर के उदाहरणों की खोज बन्द हो गई है, और साथ ही सभ्यताओं को मार्क्सवादी नियम की सैद्धांतिक बहस थी। बुनियादी सवाल यह है कि पूंजीवादी युग से समाजवादी युग में मानव जाति के विकास का क्या नियम बताया गया था। इधर-उधर की कुछ भविष्यवाणियां सच हुई हैं या नहीं, इसे हम यूंही छोड़ सकते हैं: नियम साफ-साफ हमारे सामने है और उसीकी जांच होनी चाहिये। नियम कहता है कि पूंजीवादी विकास जब बहुत आगे बढ़ जायगा, तब वर्ग संघर्ष भी बहुत बढ़ जायगा। अधिक विकसित पूंजीवादी देशों के मज़दूर इतने संगठित हो जायंगे कि वे पूंजीवाद का नाश करके साम्यवादी या समाजवादी सभ्यता स्थापित करेंगे।

आज का मार्क्सवादी कह सकता है कि मज़दूरों का समाजीकरण तो पूंजीवाद के विकसित देशों में हुआ और गरीबी एशिया व अफ्रीका के पिछड़े हुये देश. में बढ़ी। मार्क्स ने स्वयं भी इन दोनों बातों के मिले जुले विकास को देख लिया था। उसका विचार था कि इस मिले जुले विकास से पूंजी-

वादी व्यवस्था टूटेगी । आज का मार्क्सवादी कह सकता है कि टूटने का यह क्रम कुछ रुक गया है क्योंकि जहां हिन्दुस्तान, चीन, मलाया, ब्रह्मा और अफ्रीका जैसे इलाकों में लोगों की गरीबी बराबर बढ़ती गई है, वहां इंगलैण्ड, जर्मनी, अमेरिका और अन्य ऐसे देशों में मज़दूरों के समूह का समाजीकरण तो जरूर हुआ लेकिन उनकी मज़दूरी भी बढ़ी। पश्चिमी यूरोप और अन्य स्थानों में मज़दूरों के समाजीकरण और हिन्दुस्तान तथा अन्य देशों में गरीबी का बढ़ना, इस बंटवारे के कारण नियम जिस रूप में निरूपित किया गया था, उस रूप में लागू नहीं हुआ। फिर नियम तो खतम हो गया। अगर यह कहा जाय कि पराधीन देशों या हाल ही में स्वतन्त्र हुये देशों में लोगों की गरीबी बढ़ने के कारण; इन्हीं इलाकों में क्रान्ति होने की सम्भावना है; तो सारा ढांचा गिर पड़ता है। फिर यह कहना मुमकिन नहीं कि मिल्कियत के सम्बन्ध बदलने से पैदावार की शक्तियां अपने आप मुक्त हो जायंगी जिससे दुनियां में समृद्धि होगी। इस दृष्टिकोण के अनुसार क्रान्ति उन्हीं इलाकों में होगी जहां पैदावार की शक्तियां सामन्त शाही के बहुत आगे नहीं बढ़ी हैं या जहां उनका ह्रास हुआ है। फलस्वरूप नयी सभ्यता के गले में जन्म से ही; खूँटा बंधा रहेगा।

लेकिन इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या; नयी सभ्यता को उन इलाकों में शुरू होने का मौका देती है जहां पूंजीवाद विकसित है; ताकि मल्कियत के पूंजीवादी सम्बन्धों के साथ विकसित पूंजीवाद के कारखानों; मशीनों और वैज्ञानिक खेती का इस्तेमाल दुनियां को समृद्ध बनाने के लिये किया जा सके। इस दृष्टि से जल्दी ही आने वाले स्वर्ण युग की बात सोची जा सकती थी। अगर सिर्फ पैदावार के रिश्ते ही मनुष्य की प्रगति को रोक रहे होते तो वर्ग संघर्ष उन्हें खतम करके एक ऐसे समाज की स्थापना करता जो समाजवादी उत्पादन के आधार पर अपने को सामूहिक रूप से संगठित करता और सारी उपलब्ध मशीनों और खेती का पूरा इस्तेमाल करता। लेकिन जल्दी ही आने वाले इस स्वर्ण युग की खूबसूरत तस्वीर में झूठे रंग

भरे गये थे क्योंकि मौजूदा सभ्यता के शासक देशों से आशा की गई थी कि वे नयी सभ्यता को शुरू करने और जन्म देने वाले होंगे। शायद यही सूत्र हैं कि यह नियम कैसे निरूपित किया गया। हर व्यक्ति अपने युग और इलाके की सफलताओं को कायम रखना चाहता है और पश्चिमी यूरोप ने निश्चय ही बहुत कुछ हासिल किया है। उसकी सभ्यता में कम से कम कुछ दिशाओं में अनन्त प्रगति की ओर इशारा किया है जो मनुष्य द्वारा इसके पहिले किसी भी देश या काल में प्राप्त सफलताओं से अधिक महान और शक्तिशाली हैं। और अगर यूरोप का दिमाग इतिहास के इस खास युग से चिपका रहना चाहता है या ऐसा कोई विशाल सिद्धान्त निरूपित करना चाहता है कि यूरोप हमेशा इस चोटी पर बना रहे और सारी दुनियां को अपने अनुसार बनाने का अमर यश भी प्राप्त करे; तो इसके लिये किसी को उसे दोषी नहीं ठहराना चाहिये।

इतिहास के मार्क्सवादी दृष्टिकोण की तुलना हीगेल के दृष्टिकोण से करने पर दोनों एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी मालूम पड़ते हैं। अपने दृष्टिकोण और विवेचनों में दोनों एक दूसरे के विरुद्ध रखे जा सकते हैं क्योंकि जहां मार्क्स ने पैदावार के तरीके को इतिहास की शक्ति का कारण माना है, वहां हीगेल ने मनुष्य की आत्मा को। लेकिन दोनों का बुनियादी नतीजा एक ही होता है। हीगेल के अनुसार इतिहास आजादी का क्रमिक विस्तार है जो आदिम समाज से शुरु होकर धीरे धीरे प्रशा के राज्य तक आया, जो उसकी राय में मानव की सफलता की अन्तिम और सबसे ऊंची चोटी थी। आजादी के इस क्रमिक विस्तार को उसने 'कुछ की आजादी' से 'बहुतों की आजादी' और फिर 'सब की आज़ादी' कहा। 'कुछ की आज़ादी' से सबकी आज़ादी के विकास और प्राचीन साम्यवाद से सामन्तशाही और पूंजीवादी लोकतन्त्र में होकर सामाजिक लोकतन्त्र या साम्मवाद में विकास के दो सिद्धान्त एक ही ढंग के हैं। हीगेल के अनुसार, यह 'सब की आज़ादी' मनुष्य की आत्मा में मूर्त्त थी और जिस राजतीतिक समाज में यह 'पूर्ण' प्रकट हुआ था, वह

आधुनिक प्रशा राज्य की पूर्णता थी। मार्क्स के अनुसार, हीगेल का यह 'पूर्ण' जर्मनी और इंगलैन्ड और शायद कुछ हद तक फ्रांस, की पूर्णता में प्रकट हुई थी, क्योंकि ये यूरोप के विकसित पूंजीवादी देश थे जहां वर्ग संघर्ष की गत्यात्मक शक्ति, जो इतिहास की मार्क्सवादी आत्मा है, पूंजीवाद का नाश करके नयी समाजवादी सभ्यता को जन्म देगी।

मौजूदा सभ्यता के नेताओं को नयी सभ्यता के जन्मदाता होने का सौभाग्य नहीं मिलेगा। ऐसा इतिहास में नहीं हुआ है; लेकिन केवल इतना ही प्रमाण हो ऐसा नहीं है। यह बुनियादी तौर पर नामुमकिन मालूम पड़ता है क्योंकि हर सभ्यता में कुछ पैदावार के तरीके; कुछ सोचने के ढंग; कुछ खास क्रम: मजबूती से जमे रहते हैं। मनुष्य चाहे जितनी भी अच्छी तरह समझ ले कि पैदावार के ये ढंग और सोचने के ये तरीके नयी नयी स्थिति का मुकाबला नहीं कर सकते: लेकिन ये इतनी मज़बूती से जमे रहते हैं कि मनुष्य इन्हें बदल नहीं पाता। उसका सारा ढांचा उन पर खड़ा रहता है और मनुष्य की बुद्धि में संशोधन करने और बदलने की ताकत चाहे जितनी भी क्यों न मान ली जाय; यह मानना उचित नहीं मालूम पड़ता कि कुछ लोग जो एक ख़ास सभ्यता के अगुआ रहे हैं और उसके तरीकों में रम गये हैं; उनमें फिर इतना लचीलापन आयेगा कि वे इन तरीकों को छोड़ सकें और नये तरीके अपना सकें जिनमें नयी स्थिति का सामना करने की अधिक क्षमता हो।

इसका यह मतलब नहीं कि मनुष्य के जीवन में वर्ग संघर्ष नहीं चलता रहा। सारे इतिहास में वर्गों के बीच संघर्ष चलता रहा है और अब हमको समझना चाहिये कि वह वास्तव में किस प्रकार चलता रहा है। इतिहास के विद्यार्थी को दिल की पसन्द और नापसन्द से और देश भक्ति की इस भावना से कि वह अपने देश और युग की सफलता को कायम रखे; कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। इस वर्ग संघर्ष का क्या रूप और क्रम रहा

है; इसे निष्पक्ष होकर देखना चाहिये। सभी युगों में आन्तरिक असमानता रही है और यह उन वर्गों के द्वारा प्रकट होती रही है जो आपस में संघर्ष करते रहे हैं; इसमें कोई शक नहीं। वस्तुतः वर्गों का आन्तरिक संघर्ष राष्ट्रों के बाहरी संघर्ष के साथ साथ चलता रहा है। अर्नाल्ड टायनबी ने बराबर इन दो बातों, अन्दरूनी संघर्ष और बाहरी संघर्ष का ज़िक्र किया है, और उसकी राय में अन्दरूनी और बाहरी संघर्ष के दोहरे दबाव में, अन्दरूनी संघर्ष वर्गों के बीच और बाहरी संघर्ष राष्ट्रों के बीच, सभ्यता टूटती या सड़ती है। मार्क्स ने अन्दरूनी सर्वहारा और बाहरी सर्वहारा के इस फर्क की ओर काफी ध्यान नहीं दिया। अगर देते, तो वे अन्दरूनी सर्वहारा के समाजीकरण की बात कहते और बाहरी सर्वहारा की बढ़ती हुई गरीबी की।

किसी विचारधारा को सबसे अच्छी तरह उसको अन्दरूनी तर्क से परखा जा सकता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का सारा ढांचा पैदावार की बढ़ती हुई ताकतों और पैदावार के स्थिर रिश्तों के संघर्ष के अन्दरूनी तर्क पर खड़ा है। वास्तव में, यह तर्क अपने आप में पूरा, निश्चित और संगत है। युरोप वालों ने चाहे प्रयोगात्मक जांच के बाद इसका परित्याग कर दिया हो, लेकिन एक ख़ास ढंग के एशियाई दिमाग़ को अब भी इस सिद्धांत का अंडे से मुर्गी की तरह समाज का स्वतः संचालन बहुत प्रिय है। समाज स्वयं गतिशील है और भौतिकवादी व्याख्या में इस गति की कुन्जी है। कुन्जी है बढ़ती हुई शक्तियों और जकड़े हुए सम्बन्धों, शोषितों और मालिकों के संघर्ष में। कुन्जी इतनी सीधी है और सृष्टि के भेद का पता इससे इतनी अच्छी तरह लगता मालूम होता है कि यह बहुत ही आकर्षक मलूम पड़ती है। लेकिन वह कौन सा अन्धेरा कमरा है जिसमें इसकी रोशनी पड़ती है? इससे सिर्फ इतना मालूम होता है कि इतिहास, इतिहास नहीं हैं और इतिहास की गति की ऊँचाइयां, और शायद नीचाइयां भी, हमेशा ऐसी ही रही होंगी और भविष्य में भी हमेशा ऐसी ही रहेंगी। आज सारी दुनियां में विकसित शक्तियों और स्थिर सम्बन्धों की एक ख़ास

स्थिति है। इस स्थिति ने युरोप और अमेरिका को इतिहास की चोटी पर रख दिया है और बाकी दुनियां को नीचे गड्ढे में। मार्क्सवादी नियम को शक्तियों और सम्बन्धों के टकराव के फलस्वरूप होने वाले हर विस्फोट और हर क्रांति के पीछे असंगत ढंग से शरण नहीं लेनी चाहिये। युरोप और अमेरिका की शक्ति की मौजूदा स्थिति हमेशा ही रही होगी और पैदावार के तरीकों के स्वतः संचालन के अनुसार, हमेशा ही रहेगी।

भौतिकवादी व्याख्या के साधारण नियम पर विचार करते हुए, विशेष संकटों को छोड़ देना होगा। अगर उन्हें अपवाद से अधिक कुछ माना गया, तो साधारण नियम खतम हो जायगा। साधारण नियम के अनुसार पूँजीवादी समाज के स्वतः संचालन से, पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में उसके सबसे अधिक विकसित इलाके साम्यवादी समाज को जन्म दे सकेंगे। इसी तर्क से, अगर हम पीछे देखें तो ये ही इलाके सामन्तशाही और उसके पहिले के युगों के भी नेता रहे होंगे। अगर कुँजी इतिहास के भविष्य के लिये इस्तेमाल हो सकती है तो भूतकाल के लिये भी इस्तेमाल हो सकनी चाहिये। वास्तव में वर्ग संघर्षों और दास युग, सामंतशाही और पूँजीवादी में होकर समाज के स्वतः संचालन में राष्ट्रों का उत्थान पतन का कोई इतिहास जैसा हम उसे जानते हैं, नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त इतिहास के भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार कोई भी समय, उदाहरण के लिये वह समय जब मिश्र या हिन्दुस्तान इतिहास की चोटी पर थे, पहिले और बाद में हमेशा कायम रहना चाहिये था। सारे इतिहास में दुनियां का एक ही चेहरा होना चाहिये था, जिसमें एक ओर सुनहरी मुस्कान होती और दूसरी ओर एक टपका हुआ आंसू। इतिहास के मार्क्सवादी तर्क का तीव्र विरोध करने के बावजूद, यूरोप के दिमाग़ ने उसकी ऐसी अन्दरूनी परख नहीं की, यह महत्वपूर्ण है। आखिरकार मार्क्स की कोशिश एक ऐसी विशाल विचारधारा का निर्माण करना था जिससे मुस्कान हमेशा यूरोप के ही चेहरे पर नाचती

रहे । यूरोप की आत्मा की यह एक अनुपम चेष्टा थी । यूरोप का कौन दिमाग यह चाहेगा, या कर सकेगा कि यूरोप के अमर यश की इस बड़ी ही अध्यात्मिक चेष्टा को जड़ उखाड़े । यूरोप से निकलने वाले अधिकांश आधुनिक सिद्धांतों की तरह इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या भी यथास्थिति की सेवा करने वाला एक सिद्धांत है, कम से कम यथास्थिति के उस हिस्से का जिसमें यूरोप की महानता है । इतिहास पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जिस तरह लागू किया गया है, उसके अन्दरूनी तर्क की इस जांच से पता लगता है कि यह उतना ही अध्यात्मिक है जितना अद्वन्द्वात्मक और बिल्कुल अनैतिहासिक है ।

इतिहास में प्रकृति और पुरुष

क्या इतिहास का आर्थिक संचालन नहीं टिक पाता ? मौजूदा शताब्दी में दो बहुत अच्छी ऐतिहासिक कृतियां लिखी गई हैं । चार्ल्स और मेरीबियर्ड ने आर्थिक संचालन की दृष्टि से अमेरिकन सभ्यता के विकास का एक बड़ा ही दिलचस्प विवरण लिखा है । मीनेक ने एक ऐसा ही दिलचस्प विवरण दिया है आत्मा और दिमाग के कार्यकलाप की दृष्टिकोणों के बीच कोई फैसला करना मुश्किल होगा क्योंकि दोनों विवरण समान रूप से दिलचस्प और अधूरे हैं । इतिहास को समझने में उनकी देन बहुत बड़ी लेकिन नाकाफी है । अधूरे दृष्टिकोण से जरूर गलतियां होती हैं हरमान ओंकेन ने जिन्होंने बर्लिन युनिवर्सिटी में मेरे जैसे बहुतों में इतिहास के लिये प्रेम पैदा किया, एक सदी की अंग्रेजी विदेश नीति का एक विस्तृत विवरण लिखा है कि किस प्रकार वह हिन्दुस्तान की फौजी सुरक्षा की धुरी पर चलती रही । यह कहना मुश्किल है कि उन्होंने किसी भी दृष्टिकोण से लिखा है या नहीं, लेकिन वह ऐतिहासिक घटनाओं के एक अव्यवस्थित समूह के एक लड़ी में पिरोने में पूरी तरह सफल होते हैं । उनके कथन में कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है और मुमकिन है कि उससे आखिरी जवाब न मिले, लेकिन किस कथन से ऐसा हुआ है । प्रकृति और पुरुष कम से कम जहां तक इतिहास का

ताल्लुक है, नकली ढंग पर परस्पर विरोधी बना दिये गये हैं। प्रकृति को पुरुष और पुरुष को प्रकृति में अनूदित हो सकना चाहिये और यह अनुवाद हमेशा होता रहा है। लेकिन यथार्थ और प्रतिमूर्ति के बीच अकसर एक छाया आ जाती रही है। अनुवाद खराब हुआ है, क्योंकि एक ने दूसरे की भाषा का गलत समझा है या उसका गलत अनुवाद किया है।

अगर तिहासिक उद्देश्यों के लिए प्रकृति को समाजका संगठन और उसका आर्थिक लक्ष्य कहा जाय और पुरुष को समाज की दशा और उसके साधारण लक्ष्य कहा जाय तो दोनों के रिश्तों को बुनियादी तौर पर गलत समझा गया है। तीन तरह के रिश्ते मुमकिन हैं, अधीन, आजाद और अन्यो-न्याश्रित और आधुनिक सभ्यता ने केवल पहिले दो की ही खोज की है। इतिहास बनाने वाले या इतिहास लिखने वाले दोनों ही अपना काम अधी-नता या आजादी के दृष्टिकोण से करते हैं और फलस्वरूप बनाने या सम-झने में गलती हो जाती है। अधीनता का रिश्ता तब होता है जब मान लिया जाता है कि एक तरह के लक्ष्य पूरे हो जाने पर दूसरे तरह के लक्ष्य भी अपने आप हासिल हो जायँगे। स्मिथ, मार्क्स जैसे इतिहास के समाज शास्त्रियों के अनुसार साधारण लक्ष्य अपने आप आर्थिक लक्ष्यों से प्राप्त हो जायँगे और गाँधीवादी समाजशास्त्रियों के अनुसार आर्थिक लक्ष्य अपने आप साधारण लक्ष्यों से मिल जायँगे। एक के दूसरे से अपने आप निकल आने के इस विश्वास से इतिहास बनाने और समझने दोनों ही में विकृति हुई है। ऐसी हालत में प्रकृति पुरुष का उल्टा रूप हो जाती है और पुरुष प्रकृति की भाषा को न समझे और उसकी जरूरतों की ओर काफी ध्यान न दे तो प्रकृति स्वयं अपना अधिक तम कौशल खोजने की कोशिश करती है और पुरुष उस बारे में कुछ नहीं कर सकता। तब एक जिच पैदा हो जाती है। ऐसी हालत में पुरुष प्रकृति से अपना बदला लेता है, और सारा सिलसिला उलट कर नये रास्ते पर चलता है, और फिर प्रकृति की भाषा को गलत समझता है। साधारण लक्ष्यों के अर्थिक लक्ष्यों से या आर्थिक लक्ष्यों के

साधारण लक्ष्यों से मिलने को पूरी तरह नामुमकिन देखकर आधुनिक दिमाग अब एक दूसरे से आजाद मंजिलों की खोज में चला पड़ा है।

इतिहास के आधुनिक दर्शन और विभिन्न उदारवादी या समाजवादी विचार धाराओं के राजनीतिज्ञ यह समझते हैं कि बौद्धिकता और अध्यात्मिकता के मन्दिरों में अलग २ पूजा करने से वे समझ भी सकेंगे और साथ साथ निर्माण भी कर सकेंगे। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि इन दोनों देवियों को एक दूसरे से बड़ा द्वेष है और उन्हें उनकी ठीक जगह पर रखना जरूरी है। अन्यथा वे एक दूसरे का प्रभाव नष्ट कर देती हैं। ऐतिहासिक जांच और निर्माण का सही तरीका एक ऐसा औजार बनाना होगा जिसमें पुरुष या साधारण लक्ष्यों और प्रकृति या आर्थिक लक्ष्यों को अन्योन्याश्रित रिश्तों में मिलाया जाय। तब दोनों को ही काट छांट कर संवारना होगा, अपनी मौजूदा और परम्परागत शकलों से निकाल कर एक दूसरे के अनुरूप बनाना होगा। ऐसे औजार की जरूरत कम से कम कुछ लोग महसूस कर रहे हैं और इसलिए उसे बनाने की कोशिश शुरू हो गई है। प्रकृति और पुरुष की अन्योन्याश्रयिता के ऐसे औजार से इतिहास को ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकेगा।

अब तक हर समाज या सभ्यता में संगठन और मशीनी कौशल का एक खास दिशा की ओर बढ़ने का झुकाव रहा है। जब तक यह कौशल बढ़ता जाता है, इसके प्रति दो तरह की अध्यात्मिक प्रतिक्रियायें हो सकती हैं कुछ लोग उसे बिलकुल स्वीकार नहीं करते क्योंकि समाज कैसा होना चाहिये, इस बारे में उनके विचार बिलकुल इससे मेल नहीं खाते। उनका विरोध चाहे जितना भी जोरदार हो, घटना क्रम पर इस प्रतिक्रिया का असर नहीं के बराबर होता है। दूसरी प्रतिक्रिया होती है एक दिशा में बढ़ते हुए इस कौशल को गलती से पूर्ण कौशल समझना और छोटी छोटी बातों में कुछ बदलाव करके, या बिना बदले ही अपने को उसकी सेवा में लगा देना।

जब मनुष्य आंशिका कौशल को पूर्ण कौशल समझ कर उसी में अपनी कोशिशों का लक्ष्य देखने लगते हैं तो जिस व्यवस्था में वे रहते हैं, अच्छी तरह उसकी अन्दरूनी जांच करने की योग्यता उनमें नहीं रह जाती। व्यवस्था फिर अपनी जन्मजात दिशा में ही बढ़ती जाती है। ऐसा समाज अनिवार्य ही डिनोसार (प्राचीन विशालकाय जन्तु जो बहुत दिन पहिले नष्ट हो गया।) या अन्य ऐसे विशालकाय पशुओं की तरह बढ़ता है, जिनमें प्रकृति ने भी शायद एक दिशा में अधिकतम कौशल का प्रयोग किया था। जैसे ये डिनोसार या अन्य पशु अपने ही अन्दरूनी बोझ से, या किसी दूसरी दिशा में अधिकतम कौशल हासिल करने वाले अन्य पशुओं का मुकाबला न कर पाने के कारण मर गये या पिछड़ गये, उसी तरह समाज या सभ्यता भी अपनी आरम्भिक दिशा में अधिक तम कौशल हासिल करने की कोशिश करती है और फिर अपने ही बोझ या बाहरी दबावों के असर से नष्ट हो जाती है। जब तक कौशल बढ़ता रहता है तब तक मेहनत, ताकत और साधारण गति रहती है और समाज के अन्दर आबादी के अलग २ हिस्से अपनी हालत सुधारने के लिए वर्ग संघर्ष करते हैं और समाज के बाहर वे बाहरी दबावों का मुकाबला करते हैं और कभी कभी दूसरे समाजों में पोषण भी पाते हैं। जब अधिकतम कौशल की सीमा आ जाती है और जित्र पैदा हो जाती है तो अन्दरूनी वर्ग संघर्ष असहनीय हो जाता है और उसे देखने से न्यायपूर्ण वर्ण व्यवस्था में बदलने की कोशिश की जाती है और दूसरे समाजों संघर्ष के अधिकाधिक दुखदायी और शक्ति के बाहर होते जाते हैं। ऐसी हालत में उस सभ्यता का पिछड़ना या गिरना अनिवार्य हो जाता है। अगर ऐसे वर्ण बनाने की कोशिश कामयाब हो जाती है जिसे न्यायोचित ठंहराया जा सके तो पिछड़ना कुछ देर के लिए रुक जाता है। लेकिन आखिरी नतीजे के बारे में कोई शक नहीं रहता क्योंकि वर्णों से सड़न पैदा होती है और बाहरी दवाबों से बिखराव ये दो बातें, समज के अन्दर वर्ग का वर्णों तथा वर्णों का वर्गों में बदलना और बाहर राष्ट्रों की ताकत का घटना बढ़ना, अब तक ज्ञात सभी समाजों में रही हैं।

वर्ग और वर्ण

कुछ लोग सोच सकते हैं कि वर्ण सिर्फ हिन्दुस्तान की ही खासियत है। इस अर्थ में कि वर्ण विभाजन बहुत ही अधिक दिनों तक टिका रह गया और उसमें कुछ खास विशिष्टतायें आ गई हैं, यह हिन्दुस्तान की एक अनोखी व्यवस्था है। लेकिन एक ऐसी व्यवस्था के रूप में जिसमें आबादी के विभिन्न वर्ग अपनी उचित जगह पर आ गये हों और एक दूसरे से अधिक झगड़ते न हों, यह सब जगह मिलती है। जन्मजात वर्गीकरण या धर्म द्वारा उसकी मान्यता वर्णों का आवश्यक गुण नहीं है। वर्ग से वर्ण की भिन्नता उस स्थिरता से होती है जो वर्ग सम्बन्धों में आ जाती है, कोई व्यक्ति अपने से ऊंचे वर्ण में नहीं जा सकता और कोई वर्ण अपनी सामाजिक स्थिति और आमदनी में ऊपर नहीं उठ सकता। अस्थिर वर्ण को वर्ग कहते हैं। स्थायी वर्ग वर्ण कहलाते हैं। हर समाज या सभ्यता में वर्ग से वर्ण और वर्ण से वर्ग का बदलाव हुआ है। यही बदलाव लगभग सभी अन्दरूनी घटनाओं की जड़ में होता है। यह करीब करीब हमेशा ही न्याय और बराबरी के भागों से प्रेरित होता है लेकिन अब तक ये मांगें हमेशा ही भ्रष्ट हो जाती हैं।

प्राचीन रोम में पैटिशियनों और प्लीबियनों का वर्ग संघर्ष लगभग हमेशा ही चलता रहता था। जब कभी रोम की ताकत और आर्थिक शक्ति बढ़ी, यह संघर्ष अपेक्षतया खुल कर हो सका और वर्ग ऊपर उठने के लिए संघर्ष करते। जब कभी यह संघर्ष समाज के अस्तित्व को असहनीय हो उठता और बाहरी दबाव बढ़ते, तो न्याय और बराबरी के नाम पर एक स्थायी और समझदारी की व्यवस्था की मांग होती। रोम में वर्गों का वर्णों और वर्णों का वर्गों में बदलाव कई हालतों में होकर गुजरा। एक समय वर्ण व्यवस्था का इस्तेमाल रोम की ताकत और घर का निर्माण करने के लिये किया गया। वर्गों में अक्सर रोमन नागरिक समाज में बराबरी पाने की इच्छा से संघर्ष

करते थे। बाद में अन्दरूनी बिखराव से बचने और जो कुछ हासिल किया गया था, उसकी रक्षा का वर्ण साधन बने। बिल्कुल अन्त में किसी भी व्यवहारिक वर्ण व्यवस्था में न्याय की रक्षा न हो सकी और रोम टूट गया। वर्गों से वर्णों और वर्णों से वर्गों में बदलने के ये सभी प्रयत्न रोम द्वारा एक सीमित दिशा में कौशल प्राप्त करने की कोशिशों के साथ हुए। यह भूलना नहीं चाहिए कि रोम के लैटिफन्डिया का मुकाबला आज के बड़े से बड़े फार्मों (खेतों) से किया जा सकता है। ये लैटिफन्डिया भी अपने ही बोझ और बाहरी दबाव के कारण मुरझा गए।

हिन्दुस्तान में वर्णों के खिलाफ दो निश्चित आन्दोलन हुए मालूम पड़ते हैं। पहिला आन्दोलन करीब २६०० वर्ष पहिले शुरू हुआ और पांच सौ वर्षों तक चलता रहा। उस समय के साहित्य से पता चलता है कि यह आलोचना और सुधार का आन्दोलन था। इससे वर्णों में कुछ ढिलाई आई थी और समाज में कुछ हरकत हुई थी। एक समय गौतम बुद्ध को बिना उनके मालिकों की अनुमति के, कर्जदारों और नीचे वर्ण के लोगों का अपने संघ में प्रवेश बन्द करना पड़ा था। वर्णों की इस ढिलाई के साथ राजनीतिक शक्ति और आर्थिक समृद्धि भी बढ़ी थी। देश के विभिन्न राज्यों में मिल जाने का झुकाव था चाहे ये सम्बन्ध जितने भी ढीले हों जिससे आपसी लड़ाइयां बन्द हुईं और व्यापार बढ़ा। कारीगर बढ़े, खेती में सुधार हुआ और राष्ट्र की आमदनी बढ़ी। यूरुप से होने वाला एक हमला नजदीक आने के पहिले ही रोक दिया गया और हिन्दुस्तान ने अपने धार्मिक और सांस्कृतिक दूत दूर दूर के देशों में भेजे। राजनीतिक कर लेना और दूसरों पर हुकूमत करना उसके रक्त में नहीं था लेकिन उस समय निश्चय ही हिन्दुस्तान का व्यापार दूर दूर तक चलता होगा और इस व्यापार के लिये चीजें बनती भी होंगी। इसी के साथ साथ सोचने में कुछ बौद्धिकता और एक साथ आम चेतना और दिलचस्पी भी रही। इसमें कोई शक नहीं कि वर्णों के विरुद्ध वर्गों की ओर के इस आन्दोलन के साथ साथ सारे समाज में आंशिक कौशल बढ़ा।

चार सौ बरस बीत जाने के बाद भारतीय समाज की सृजनात्मक शक्तियां फिर जागीं और वर्णों के खिलाफ दूसरा आन्दोलन हुआ। उस समय के साहित्य से पता लगता है कि यह आन्दोलन पूर्ण परित्याग का था। वर्ण व्यवस्था की हर तरह से हर दिशा से आलोचना की गई। वास्तव में अलगाव ऐसा पूरा नहीं था और करीब करीब उसी तरह समाज में आंशिक कौशल बढ़ा और वर्गों को साधारण हरकत हुई जैसे पहिली बार हालांकि अधिक विकसित रूप में।

इन दोनों आन्दोलनों के बीच का समय और वह अवधि जो अब खतम होती मालूम पड़ती है, इसके खिलाफ वर्ण आन्दोलन का समय था। पहिला काल कुछ उदार और अपेक्षतया अस्थिर मालूम पड़ता है, क्योंकि उस समय के सामाजिक धर्मग्रन्थों में समझौते की गुंजाइश थी और अपने भोजन तथा विवाह के तरीकों में वर्ण; अनुमति से, ऊपर नीचे जा सकते थे, हालांकि उसके लिये बड़ी शर्तें लगी हुई थीं और अनुमति मुश्किल से मिलती थी। उस समय हिन्दुस्तानी समाज विदेशी हमलों से कुछ कमजोर था हालांकि उस की दूसरों को हटाने या अपने में खपाने की ताकत खतम नहीं हुई थी। वर्ण के पक्ष में बाद का आन्दोलन १२०० सालों के लम्बे अर्से तक चलता रहा है। इस काल में वर्गों में करीब-करीब पूरा जकड़ाव रहा है। निर्गुण सत्य और सगुण सत्य के बीच एक बहुत बड़ा फर्क करके शंकराचार्य ने अध्यात्मिकता की ऊँची उड़ानों के साथ बड़ी ही नीचतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था का मेल बैठाने के लिये दार्शनिक आधार दे दिया इस समय हिन्दुस्तानी समाज विदेशी हमलों और बढ़ती हुई गरीबी का शिकार हुआ और उसकी बढ़ने की ताकत बिल्कुल खतम हो गई। शंकराचार्य को महान मूल या वर्ण व्यवस्था को इस जड़ता के लिये दोष देने का कोई फायदा नहीं।

दोनों ही बुराइयों की जड़ में था एक खास दिशा में हासिल किया गया

अधिकतम कौशल, जिसके आगे हिन्दुस्तान का समाज नहीं जा सका और इस कारण अनिवार्य ही उसे दूसरे समाजों का शिकार होना पड़ा जो दूसरी दिशाओं में कौशल हासिल करने की कोशिश कर रहे थे। एक हद तक वर्णों और उसके साथ के दिमाग ने गतिहीन समाज को बचाने के लिये ढाल का काम किया। यह ढाल बनाई जा सकी यह उतनी अचरज की बात थी जितनी वह गन्दगी जिसे इसने ढका। यह सोचने का कोई फायदा नहीं कि वर्ण और शंकराचार्य के साथ सड़ने के बजाय हिन्दुस्तान अगर उनके बगैर रहकर टूटता तो बेहतर होता या नहीं। जो भी हो यह अवधि अब खतम होती मालूम पड़ती है। महात्मा गांधी के समय से हिन्दुस्तानी वर्णों में सारे समाज के कौशल की खोज में नीचे ऊपर चलने की एक आम हरकत शुरू हो गई है। लेकिन यह भूलना नहीं चाहिये कि इसकी शुरूआत उन भक्ति या दर्शन पर आधारित, मानवतावादी सम्प्रदायों ने की थी, जिनका दृष्टिकोण बहुत ही उदार था।

इतिहास का दर्शन वर्गों से वर्णों और वर्णों से वर्गों में इस बदलाव की गति के क्रम और बदलाव की अवधियों के समय की खोज कर सकना है। हिन्दुस्तान में वर्गों और वर्गों के बीच के बदलाव का जो साधारण सिद्धान्त है, उसे विस्तृत रूप देने के लिये, अभी ऐतिहासिक सामग्री की कमी है। हिन्दुस्तान में वर्णों की जो खास व्यवस्था बनी, वह कैसे बनी, इस बारे में भी बड़ी अटकल लगाई जाती है। सचमुच उसने ऐसा मेल बिठा दिया कि जितने लम्बे समय तक वह लोगों को स्वीकृत रह कर टिकी रही और जितनी अधिक निष्क्रियता समाज में फैली, दोनों ही बातें आश्चर्यजनक हैं। यह मेल और भी आश्चर्यजनक मालूम होता है जब हम देखते हैं कि कितने भिन्न भिन्न रंगरूपों के लोगों के बीच मेल बिठाया गया है। सब से अधिक समानता रखने वाली मानवी सभ्यता अब तक ऐसी कोशिश से बचती रही है। लेकिन यह मेल धार्मिक और अध्यात्मिक क्षेत्रों में ही बिठाया

गया और वर्ण व्यवस्था के आखिरी अवधि में विषमता अधिकाधिक बढ़ी है। न सिर्फ अन्याय बहुत बड़े हैं बल्कि कुछ कबाइली और शकल सूरत की विशेषतायें कुछ खास वर्णों के साथ जड़ जाने से, जो गरीबी और निष्क्रियता बढ़ने के साथ और भी बढ़ गई हैं, वर्णों के विनाश को बहुत कठिन बना दिया है।

हिन्दुस्तान की वर्ण व्यवस्था ने इतने बड़े पैमाने पर एकता कायम करने की कोशिश की कि जाति, धर्म, भाषा, रंग और रूप, कोई भी बात उसे रोक नहीं सकी। हिन्दुस्तान की सीमाओं के भीतर इन्सानों के बीच मेल बैठाने का यह जो अपूर्व नाटक हुआ; सम्भवतः उसकी प्रसिद्ध सहिष्णुता और अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने और साम्राज्यवाद से बचने की भावना का मूल भी इसी में है। हिन्दुस्तान में वर्णों और वर्गों के बदलाव की इस कथा में कई हीरों की चमक दिखाई पड़ सकती है लेकिन जो सब से बड़ी खासियत है; उसे नहीं भूलना चाहिये। अन्दर वर्णों के बनने के साथ-साथ बाहरी गिरावट आई चाहे दोनों में समय का कुछ फर्क रहा हो। सारे समाज के कौशल में बढ़ोत्तरी होने के साथ-साथ विभिन्न वर्गों के ऊपर नीचे जाने की अन्दरूनी हरकत हुई।

अमेरिका के सामाजिक ढांचे को अक्सर गलत समझा जाता है और वहां रहने वाले तथा बाहरी दोनों तरह के लोग अमेरिका में वर्ग विभाजन से इन्कार करते हैं। ऐसी गलतफहमी वर्ग और वर्ण के फर्क में भूल करने से होती है। यूरोप के पुराने सामाजिक समूहों में वर्णों का असर कभी भी पूरी तरह नहीं गया। वर्गों के बहुत तेजी से ऊपर उठने की अवधि में भी, यूरोप में लोकतांत्रिक व्यवहार और आपसी विवाह आसान या स्वाभाविक नहीं रहे। अमेरिका में व्यक्ति और वर्ग इतनी तेजी से ऊपर उठे हैं और साथ ही लोकतान्त्रिक व्यवहार, भोजन और विवाह की आदतों तक, इतना फैल गया है कि वर्गों का अस्तित्व बहुत कुछ उन लोगों की नजरों

से छिप जाता है जो वर्ग और वर्ण के फर्क को नहीं समझते। बोस्टन ब्राह्मणों जैसे छोटे- छोटे समूहों और नीग्रो तथा गोरी चमड़ी वालों के बीच के लगभग कबीलों जैसे फर्क को छोड़कर अमेरिका में वर्ण नहीं हैं। लेकिन वर्ग हैं। इनकी आमदनी, ताकत और सामाजिक स्थिति में फर्क भी है और खास बात यह है कि वे अपनी स्थिति और आमदनी के बढ़ाने के लिये संघर्ष भी करते हैं। जब तक समाज में असमानता मिटाने का ऐसा आन्दोलन चलता रहता है वर्ग व्यवस्था और उसके साथ वर्ग संघर्ष भी कायम रहते हैं। यह वर्ग संघर्ष 'एस्केलेटर क्लाज' (वेतन में अपने आप होने वाली वृद्धि का कानून) और वार्षिक वेतन वृद्धि जैसी जीतें हासिल कर चुका है और काम या बेकारी, किसी भी हालत में, न्यूनतम वार्षिक वेतन हासिल करने की कोशिश कर रहा है, यह वहां के मजदूर आन्दोलन के लिये तारीफ की बात है लेकिन उससे भी अधिक यह अमेरिका के आर्थिक ढांचे में बढ़ सकने की ताकत के कारण है। लेकिन किसी दिन मशीनी कौशल अपनी चरम सीमा पर पहुंच जायगा और तब जिच पैदा हो जायगी।

स्वयं अपनी अलग दिशाओं में कौशल प्राप्त करने वाले अन्य समाजों में बाहरी दबाव के अलावा, अन्दरूनी वर्ग अन्दोलन तब असहनीय हो जांयगे। अन्य सभी लोगों की तरह अमेरिकन लोगों के सामने भी यह सवाल होगा कि वे वर्ण व्यवस्था बनायें या टूट जांय और अगर वे कोई वर्ण व्यवस्था बनाने में कामयाब भी हो जांय तो उनका बिखराव केवल कुछ समय के लिये टल जायगा। अभी ही मजदूर यूनियनों की बैठकें बहुत कुछ वर्ण बैठकों जैसी होती हैं और सारे मजदूर वर्ग की नहीं बल्कि किसी खास काम या धन्धे के मजदूरों की एकता जगाई जाती है। यह एकता अभी स्वाभाविक नहीं है और गानों तथा अन्य खटकने वाले तरीकों से उसे सहारा देना पड़ता है। आज यह एकता गति शीलता का एक तेज

हथियार मालूम पड़ती है लेकिन उसे एक रक्षात्मक ढाल बनाने में ज्यादा देर नहीं लगेगी। यूरोप की तरह अमेरिका के सामाजिक विचारों में भी 'सहमति के क्षेत्र,' सहमति के क्षेत्रों का राजनीति से अलगाव' :सहयोगी और कर्मचारी समाज' :काम की स्थिति' जैसे अस्पष्ट और वर्ण मय विचार पैदा हो गये हें। उचित समय पर ये उपयोगी हो सकते हैं। फिलहाल यह स्वीकार करना होगा कि अमेरिका के आर्थिक ढांचे की जवानी और ताकत और आगे बढ़ने की शक्ति का बहुत अच्छा जोड़ उस जवानी और ताकत और आगे बढ़ने की शक्ति में है जिससे अमेरिका के वर्ग वर्णों से दूर हटे हैं और उसके असर से उन्हों ने अपने को लगभग पूर्णतया मुक्त कर लिया है।

आधुनिक यूरोप के इतिहास ने अपनी ताकत की शान से सारी दुनिया पर राज किया है और उतना ही; वह ७०० साल पहिले के वर्णों से दूर हटने का एक आन्दोलन भी रहा है। अपने मालिक के साथ बंधे हुए अर्द्ध-दास की जगह आजाद किसानों या खेत मजदूरों ने ले ली। कारीगरों के गिल्ड (समाज) जिनमें भर्ती और काम सीखने के वर्णों जैसे नियम थे; धीरे-धीरे टूट गये और उनकी जगह औद्योगिक कारखाने आ गये जिनमें मजदूर ऊपर नीचे जा सकते हैं। मुफ्त शिक्षा या छात्र-वृत्तियों के जरिये सारे समाज की ही प्रतिभा आजाद पेशों में लगी। लोक-तन्त्र के फलस्वरूप राजनीतिक शक्ति पहिले की जगहों से हट कर कुछ हद तक साधारण लोगों की पार्टियों और मजदूर यूनियनों आदि में आई। दिमाग के क्षेत्र में विज्ञान ने बराबर प्रकृति से भेद मालूम किये लेकिन उतनी ही बार ऐसा भी हुआ कि जहां रोशनी मालूम होती थी; वहां अंधेरा निकला। बुद्धिवाद अधिकांश में व्यवस्थित विचार की बुनियाद बन गया है और यूरोप में व्यक्ति ने ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है जो पहिले किसी भी युग में नहीं थी। लेकिन दुनिया में यूरोप का शानदार अभियान खतम हो

गया है। उसकी ताकत की महत्ता कम से कम झुक गई है। मशीनी विकास में रुकावट आ गई है और युद्ध की तैयारियों का बोझ इतना ज्यादा है कि रहन-सहन के स्तर को उठाना मुमकिन नहीं। वर्गों का संघर्ष असहनीय या व्यर्थ होता जा रहा है। इच्छित समानता के बजाय जो टूट आ गई है उसका खतरा उठाने के बजाय लोग न्याय के स्थायित्व की इच्छा करते हैं। यूरोप का अधिकांश भाग एक स्थिर सामाजिक व्यवस्था बनाना चाहता है जिसके पीछे बुद्धि या धर्म का बल हो और जिसमें हर आदमी की सामाजिक स्थिति और आमदनी निश्चित हो और जिसमें कोई झगड़ा या विवाद न हो।

हाल में यूरोप ने ऐसे दो आन्दोलनों को जन्म दिया है; जर्मनी में हिटलर का आन्दोलन और रूस में कम्यूनिस्ट आन्दोलन। आमतौर पर इन दोनों आन्दोलनों को एक दूसरे के विरुद्ध समझा जाता है। वे ऐसे रहे भी हैं। लेकिन जहां तक वर्गों और वर्णों के बीच अन्दरूनी बदलाव का सवाल है; मेरे विचार में दोनों आन्दोलनों के पीछे एक सी भावना है। जब जर्मनी में वर्गों का संघर्ष असहनीय हो गया और हड़तालें बढ़ती गईं; जब पलटन; उद्योग-धन्धे; आजदा पेशे; छात्र; मजदूर; और किसानों के सम्बन्ध इतने बिगड़ गये कि आर्थिक जीवन या सरकार को सुविधा से चलाना नामुमकिन हो गया तो नाजी आन्दोलन ने आकर एक ऐसी वर्ण व्यवस्था स्थापित की जिसमें अलग-अलग वर्ग एक नयी और समझदारी की योजना के अनुसार सम्बन्धित थे या कम से कम ऐसी योजना जो उस समय के जर्मनवासियों को समझदारी की मालूम पड़ती थी। एक बुनियादी जरूरत इस बात की होती है कि उस समय के लोग उस योजना को अच्छी समझें और एक दूसरे को जीतने के लिये लड़ते हुए वर्ग उसे दिमागी तौर पर मान लें ताकि अपना संघर्ष बन्द कर दें। जब जर्मनी में वर्गों का संघर्ष असहनीय हो गया और जर्मनी समाज के टूटने का खतरा पैदा हो

गया तो नाजी आन्दोलन ने अलग-अलग वर्गों की सानुपातिक और निश्चित आमदनी और समाज में उनका निश्चित स्थान तय करके उन्हें वर्णों का रूप देने की चेष्टा की। उसने उन्हें अलग-अलग वर्गों में ऐसा आपसी मेल जोल बैठा कर दिखाया जिससे जीवन में एक अर्थ और उद्देश्य आ गया चाहे इस उद्येश्य में कोई शाश्वत या धार्मिक गुण नहीं था और वह संकुचित ढंग से राष्ट्रीय था। यह बुनियादी तौर पर एक वर्ण आन्दोलन था। यूरोप में शायद वर्ग संघर्ष इस ढंग से विकसित हुआ है और एक ऐसी सभ्यता के अन्दर हुआ है जो अन्दरूनी तौर पर ममता मूलक है और बाह्य रूप में साम्राज्यवादी है—कि वर्ण व्यवस्था अब मुमकिन नहीं है। कम से कम जर्मनी ने इसकी कोशिश की और असफल हुआ।

जिन लोगों पर कम्यूनिस्ट सिद्धान्त का ऊपरी असर है उनके लिये यह मानना मुश्किल होगा कि रूस में भी वर्ण व्यवस्था की स्थापना की कोशिश है। वे उसे वर्गों को नष्ट करने की एक कोशिश मान सकते हैं। यह अधिकांश इस बात पर निर्भर है कि रूस के बारे में जो प्रमाण मिलते हैं उन्हें आप किस तरह देखते हैं। नाजी लोग कह सकते थे कि समाज का जैसा समाजवादी गठन करने की वे कोशिश कर रहे थे और जर्मनी में जिस तरह सामूहिक व्यवस्था बनाने की कोशिश उन्होंने की थी; उसमें भी वर्गों को खतम कर दिया गया था। क्या उद्योगपतियों की आमदनी तय नहीं कर दी गई थी? वे अपने मुनाफे का ५ या ६ फी सदी से ज्यादा नहीं ले सकते थे। उनकी ताकत और प्रतिष्ठा कम कर दी गई थी। आदमी स्वयं अपनी व्यवस्था के बारे में जो कुछ कहता है; उसे ही माने तब तो अवश्य ही रूसी कम्यूनिज्म वर्गों को खतम करने पर आधारित है। लेकिन अगर हमने मानव इतिहास का अध्ययन किया है तो इस सन्देह को आसानी से नहीं टाला जा सकता कि जब भी किसी समाज ने वर्गों के संघर्ष को असहनीय पाया है तो उसने अपने अन्दर एक वर्ण

व्यवस्था बनाने की कोशिश की है। इन वर्णों की अलग-अलग सतहें हैं; इस बारे में कोई सन्देह नहीं। भारत की पुरातन वर्ण व्यवस्था में जो वर्ण सबसे ऊँचा रखा गया; उसकी आमदनी सबसे कम रखी गई थी। कम से कम दूसरे और तीसरे वर्णों से कम थी। मानव इतिहास में ऐसी व्यवथाएँ रही हैं जिनमें सब से ऊँचा वर्ण सबसे अमीर नहीं था इन वर्णों को अलग अलग सतहें रही हैं।

प्रतिष्ठा और आमदनी में अक्सर मेल नहीं रहता और अगर मार्क्स के इस कथन की बात की जाय कि हर किसी से शक्ति के अनुसार और हर किसी को जरूरत के अनुसार' तो ऐसे कथन भारत के प्राचीन ऋषियों की कृतियों में बहुतायत से मिल जाते हैं और मार्क्स आखिरकार एक आधुनिक ऋषि था। इस कथन के अनुसार भारतीय वर्ण व्यवस्था में कभी काम हुआ या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। कम्यूनिस्ट व्यवस्था में इस पर काम करने की कोशिश हो रही है यद्यपि उनका कहना है कि फिलहाल उन्होंने इसकी जगह एक ऐसे सिद्धान्त को अपनाया है जिसमें हर किसी को उसकी मेहनत के अनुसार मिलता है। चाहे जो भी सिद्धान्त बनाया जाय, यह सच है कि रूस के अन्दर अलग २ किस्म के मजदूरों की अलग अलग और निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा और आमदनियाँ हैं। इन समबन्धों का बदलने के लिए संघर्ष करना उनके लिये मुमकिन नहीं। जो कुछ भी परिवर्तन हो सकता है, वह ऊपर से। इसके अलावा, कुछ समय के बाद इनमें तभी तब्दीली की जा सकेगी जब कुल आमदनी बढ़ेगी और उनके आपसी अनुपात में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। हो सकता है कि कम्युनिस्ट व्यवस्था वर्गों के संघर्ष को खतम कर देती है, इसलिये नहीं कि वर्गों को ही नष्ट कर दे बल्कि नये वर्ण बनाने के लिये जिनकी स्थिति और आयदनी तय हो। हाल के यूरोपीय इतिहास के ये दो आन्दोलन, नाजीवाद और कम्युनिज्म अगर युरोप की पीड़ित और परेशान आत्मा की चेष्टायें हों कि वर्ण व्यवस्था के न्याय के जरिये अन्दरूनी असंगतियो को खतम करे तो इससे किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

यह उन लोगो के लिये एक चेतावनी है जो वर्गों को नष्ट करने के लिये (ठीक ही) बहुत उतावले हैं, कि वर्गों को खतम करने की कोशिन में वे फिर से वर्ण व्यवस्था का जन्म न दें।

रूस की वर्ण व्यवस्था जर्मनी से कुछ भिन्न है। जर्मनी में वर्ण बनाने की जरूरत इसलिये पड़ी कि उसके विकसित आर्थिक ढांचे को असहनीय वर्ग संघर्ष से बचाना था। जर्मनी के आर्थिक ढांचे को बाहरी पोषण की जो जरूरत थी वह भी इससे पूरी हो सकती थी। रूस में वर्ण व्यवस्था की जरूरत शायद इसलिये पड़ी कि एक खेतिहर देश का अत्यधिक विकसित औद्योगिक देश बनाना था जो तेज वर्ग संघर्षों के रहते शायद मुमकिन न होता। यह न भूलना चाहिये कि आबादी के अनुपात में रूस में जमीन और प्रसाधन बहुत हैं और विकास की सम्भावनायें बहुत अधिक हैं। अगर यह मान भी लिया जाय कि रूस अपने आर्थिक विकास में सफल होता है और बाहरी दबाव उसकी कोशिशों को व्यर्थ नहीं कर देते तो भी रक्षात्मक वर्ण और रचनात्मक वर्ण का यह फर्क इतना महत्वपूर्ण है या नहीं कि रूस बाद में वर्णों को वर्गों में बदल सके, यह कोई नहीं कह सकता। इसके अलावा कम्युनिष्ट रूस वर्ण व्यवस्था की अन्य घृणित विशेषताओं के अलावा उसके सबसे बुरे गुण, अस्पृश्यता का प्रदर्शन भी कर रहा है। अगर भारत में आबादी के बीस फीसदी लोग अछूत हैं तो रूस में सुधार और कैद के कैम्पों में बन्द रूस के अछूत ५ से १० फीसदी तक रहे हैं। रूस के अछूत बाहरी तत्वों को मिलाने का नतीजा नहीं है, जैसा शायद भारत में हुआ हो। उसका कारण जो भी रहा हो, वह कम से कम खर्च पर आर्थिक निर्माण के विशाल और निर्दय लक्ष्य को पूरा करता है। रूसी व्यवस्था देखने में भारतीय व्यवस्था से अधिक क्रूर मालूम पड़ती है, लेकिन यह अधिकांश भ्रम है क्योंकि समय और धर्म ने उसके तीखेपन को मिटा दया है और जो लोग इससे पीड़ित हैं, उनमें भ. वर्ण व्यवस्था को स्वीकृत कराके उसकी क्रूरता को चारों ओर फैलाने के साथ छिपा भी दिया है

वर्ग के जकड़ कर वर्ण का रूप लेने से हिन्दुस्तानी अच्छी तरह परिचित हैं। युगों से यह चीज दिखाई पड़ती रही है और आज योरोप में दिखाई पड़ रही है। योरोप की आत्मा एक अलग वर्ण व्यवस्था बना सकेगी या नहीं। यह दूसरी बात है। उसकी कोशिशें असफल हो सकती हैं। निरंतर मशीनी क्रांति पर आधारित सभ्यता के लिये यह बहुत ही मुश्किल हो सकता है कि उसके लोगों को जिन्दगी की एक स्थिर व्यवस्था की आदत डाली जाय। अगर घटते हुए कौशल और मशीनी गतिरोध के कारण योरोप वर्ण व्यवस्था की ओर झुके भी तो समता के लिए किये जाने वाले संघर्षों की लम्बी परम्परा इतनी मजबूत है कि उसे तोड़ा न जा सकेगा। लेकिन युद्ध करने की घटती हुई शक्ति दोनों ओर झुक सकती है चाहे वर्ण व्यवस्था में हल खोजने की ओर या वर्गों के बीच समानता के लिये बढ़ते हुए संघर्षों में। तब योरोपीय सभ्यता पिछड़ जायगी और टूट जायगी या किसी अन्य अधिक शक्तिशाली सभ्यता से जीती जायगी। जब अन्दरूनी संघर्ष असहनीय हो जाता है तो वर्णों की ओर झुकाव पदा होता है और वर्ण व्यवस्था की स्थापना को कभी भ्रम में पड़कर वर्गों का अन्त नहीं समझना चाहिये। मैं वर्गों का अन्त होने के बारे में उतना ही उत्सुक हूं जितना कोई हो सकता है लेकिन मुझे भय है कि वर्गों का अन्त करने की आड़ में हमेशा वर्ण ही बनाये गये हैं। तब तक का सारा मानवी इतिहास वर्गों और वर्णों के बीच अन्दरूनी बदलाव वर्गों के जकड़ कर वर्ण बनाने और वर्णों के ढीले पड़ कर वर्ग बनने का इतिहास है।

जो लोग समाज के सभी वर्गों और वर्णों का अन्त करना चाहते हैं। उन्हें मानव इतिहास को चलाने वाली इस शक्ति को समझना होगा और समझ कर ऐसे उपाय निकालने होंगे कि दोनों का अन्त किया जा सके। इतिहास अपने आप ऐसा नहीं करेगा। कोई स्वसंचलित गति नहीं है। हिन्दुस्तान इतने दिनों तक वर्ण व्यवस्था के कारण तंद्रा और सड़न की हालत

रहा है कि उसकी नई शक्ति वर्णों को ढीला करके वर्गों में बदल रही है और अन्दरूनी असमानता को खतम करने का संघर्ष शुरू हो गया है। कोई गलत विचार; जैसे यूरोप का पूंजीवादी या कम्युनिस्ट विचार ज्यों का त्यों अपना लिया जाय तो वह वर्णों के ढीले पड़ कर वर्ग बनने के इस क्रम को रोक लेगा या नहीं यह मैं नहीं कह सकता। अगर ऐसा यूरोपीय विचार चाहे पूंजीवादी या कम्युनिस्ट; ज्यों का त्यों बिना इस बात को जांचे हुए अपना लिया गया कि वह किन हालतों में और कैसे पैदा हुआ तो वह हमारे युग में आ रही हिन्दुस्तान की नयी शक्ति की जड़ पर ही चोट कर सकता है। एक ऐसी व्यवस्था पदा हो सकती है जिसमें राजनैतिक दलों प्रबन्धक वर्ग और आजाद पेशे द्विज वर्ण बन जांय और बाकी आबादी शूद्र वर्ण की अलग २ सीढ़ियों में बट जांय।

भौगोलिक परिवर्तन

वर्ग और वर्ण के बीच का यह बदलाव, समाज या सभ्यता विशेष की सीमाओं से बाहर होने वाले बदलाओं के साथ बंधा रहा है क्योंकि वर्ग के इस संघर्ष के साथ साथ राष्ट्रों के बीच संघर्ष चलता रहा है। हर युग में शक्ति और समृद्धि एक क्षेत्र से दूसरे में बदलती रही है। कोई राष्ट्र हमेशा से इतिहास की चोटी पर नहीं बैठा रहा। हिन्दुस्तान के लोग भी ऐसी चोटियों पर रहे हैं। पिछले दो सौ वर्षों से अधिक से वे धूल में रहे हैं। इन तीनों सौ सालों में योरप के लोग चोटी पर रहे हैं। शक्ति और समृद्धि हमेशा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलती रहती है। बाहरी तौर पर सारा मानवी इतिहास शक्ति और समृद्धि के क्षेत्रों या भौगोलिक परिवर्तन का इतिहास रहा है। अगर यूरोप पिछले तीन सौ सालों

से महाद्वीपों का राजा रहा है तो हिन्दुस्तान शायद दो बार एक बार तो निश्चय ही रह चुका है। यूनान, रोम, चीन, अरब और एक हद तक मेक्सिको भी ऐसी चोटियों पर रह चुके हैं। उत्थान और पतन सभी सामाजिक समूहों और सभ्यताओं की विशेषता रही है अभी तक इससे कोई बचत नहीं रही।

अब तक सारा मानव इतिहास अन्दरूनी तौर पर वर्णों और वर्गों के बीच बदलाव और बाहरी तौर पर शक्ति और समृद्धि के एक क्षेत्र से दूसरे में स्थानान्तरण का इतिहास रहा है। यह बाहरी और अन्दरूनी बदलाव एक दूसरे से सम्बन्धित रहे हैं। जब किसी ऐतिहासिक समूह में शक्ति और समृद्धि और सफलता आई है तो वर्ण ढीले पड़े हैं और अन्दरूनी समानता की ओर प्रगति हुई है, वर्णों के बीच संघर्ष हुए हैं, जो काबू के बाहर नहीं होते, लेकिन फिर भी संघर्ष होते थे। हर वर्ग अपनी हालत सुधार कर ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहता है जिसमें मनुष्यों के बीच समानता हो। पूरे समाज की हालत में गिरावट आने पर, वर्गों का संघर्ष ऐसी शकल अख्तियार कर लेता है कि कोई भी न्यायपूर्ण व्यवस्था तत्कालीन टूट फूट से ज्यादा समतामूलक मालूम पड़ती है। चाहे कोई न्यायपूर्ण व्यवस्था बन पाये या नहीं, किसी हालत में सड़न आती ही है और समाज का, एक दो कोशिशों के बाद पिछड़ने लगना निश्चित है। बाहरी तौर पर शक्ति और समृद्धि बढ़ने पर अन्दरूनी असमानता घटती है जबकि बाहरी ताकत घटने पर अन्दरूनी असमानता बढ़ती है। एक वर्ण व्यवस्था काम करने लगती है।

किसी खास समय पर सम्पूर्ण ऐतिहासिक स्थिति अन्दरूनी तौर पर वर्ग और वर्ण और बाहरी तौर पर बढ़ती या घटती हुई ताकत से मिल कर बनती है। बाहर से देखने पर हर समाज का दूसरे समाजों और सभ्यताओं के साथ अनुकूल या प्रतिकूल स्थायी सम्बन्ध रहता है। अन्दर से देखने पर, वह हमेशा वर्गों, और वर्णों के घेरे में घूमता रहता है। इन दोनों, अन्दरूनी और बाहरी दोनों गतियों को जोड़ने वाली कड़ी का काम उसका संगठनात्मक

और मशीनी कौशल देता है। अब तक हर समाज में एक खास और सीमित दिशा में ही कौशल का विकास हुआ है, चाहे उसे कितना भी इस बात का का भ्रम रहा हो कि वह पूर्ण कौशल का विकास कर रहा है। उसके कौशल की स्थिति पर ही उसकी अन्दरूनी और बाहरी गतियों का चरित्र निर्भर करता है। जब तक कोई समाज अधिकतम कौशल की ओर बढ़ता रहता है, और उसके कुछ समय बाद तक, बाहरी दुनियां के साथ उसका सम्बन्ध बढ़ती हुई शक्ति का होता है। ऐसी बढ़ती हुई शक्ति का यह अर्थ जरूरी नो नहीं है कि वह दूसरे समाजों से पोषण पाता है लेकिन अधिकांश ऐसा होता है। कम से कम वह विदेशियों को हमला करने के लोभ से दूर रखता है और अगर कोई हमला करने की बेवकूफी करे भी तो उसका मुकाबला कर के उसे पीछे ढकेलने की क्षमता उसमें होती है। अधिकतम कौशल हासिल करने के कुछ समय बाद हर सभ्यता अन्य समाजों के साथ अपने सम्बन्ध में गिरने लगती है। वह उनके लोभ का शिकार बनती है, या, बहुत कम अवसरों पर बहुत कुछ अलगाव में सड़ती रहती है। किसी भी दशा में वह अन्दरूनी और बाहरी जातियों की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाती। कौशल की दिशा एक बार तय हो जाने पर फिर कोई समाज अब तक उसे बदल नहीं सका। अभी तक मानवी बुद्धि पूर्ण कौशल, या हर दिशा में कौशल, की आवश्यकताओं को नहीं समझ पायी है।

अधिकतम कौशल प्राप्त करने के कुछ समय बाद तक, समाज में शहरी हरकत होती रहती है और समानता के लिये कोशिश और आन्दोलन बढ़ता जाता है। यह आन्दोलन एक हद तक सन्तुष्ट भी होता है। हर तरह की समानता अभी तक कभी हासिल नहीं हुई, न उन क्षेत्रों में ही पूरी समानता आई है जिनमें किसी विकसनशील सभ्यता ने समानता हासिल करने की कोशिश की। लेकिन बढ़ते हुए कौशल और उसके साथ बढ़ती हुई शक्ति और समृद्धि से विकसनशील सभ्यता, बेहतर ज़िन्दगी और अधिक समानता की अन्दरूनी कोशिशों को एक सीमा तक सन्तुष्ट कर पाती है। अगर विभिन्न

वर्गों की आमदनी और प्रतिष्ठा का अनुपात समानता की ओर नही बढ़ता तो भी, सभी की बढ़तरी होती है। इस बढ़तरी से समाज के अन्दर अन्दरूनी सामीप्य और समानता दिखाई पड़ती रहती है और जिन्दगी की न्यूनतम आवश्यकताओं में जैसे भोजन और कपड़े, यह बराबरी बहुत कुछ सच होती है। जब कौशल में ह्रास या गतिरोध होने से समाज के अन्दर विभिन्न वर्गों की प्रतिष्ठा और उनकी कुल आमदनी में बढ़ोतरी सम्भव नहीं होती, तो समानता की मांग उच्च वर्गों से छीन कर निचले वर्गों को देने से ही पूरी हो सकती है। यह भी एक सीमा तक हो सकता है। यह किसी सभ्यता में अधिकतम अन्दरूनी सामीप्य का युग हो सकता है। लेकिन इसकी सीमा जल्दी ही आ जाती है और तब वर्ग संघर्ष विध्वंसकारी रूप अख्तियार कर लेता है। इस मौके पर बिगड़े हुए तारतम्य को फिर से कायम करने की सतत चेष्टा की जाती है और न्याय उस समय का सबसे बड़ा आदर्श बन जाता है। न्याय की मांगों पर जोर दिये बिना व्यवस्थित जीवन मुश्किल हो जाता है और असुरक्षा फैल जाती है। अगर किसी समाज में व्याप्त न्याय की भावना एक बुद्धिमत्ता पूर्ण वर्ण व्यवस्था निकाल पाती है जिसमें पूर्व प्रचलित समानता के विचार आमदनी और प्रतिष्ठा की सीढ़ियों में जकड़ जाते हैं, तो वह सभ्यता कुछ दिन और चल जाती है लेकिन ऐसे स्थायित्व के शुरू में ही निष्क्रियता का बीज मौजूद रहता है उस समय तक के लिये ऐसी प्रौढ़ सभ्यता का सड़ना या पिछड़ना अनिवार्य हो जाता है जब तक कि वह कौशल की एक नयी दिशा न खोज ले और उसकी रचनात्मक शक्तियां फिर न जाग उठें। वर्गः समानता की इच्छा की अभिव्यक्ति है। वर्णः न्याय की अभिव्यक्ति हैं। समानता अधिक स्वाभाविक और सशक्त इच्छा है जबकि न्याय एक अपेक्षातया कृत्रिम इच्छा है। लेकिन इच्छाएं शून्य में नहीं व्यक्त होती। ये किसी उठने और गिरने वाले समाज के प्रसंग में प्रकट होती हैं इस प्रसंग में: अनिवार्य हो समानता बिगड़ कर टूट-फूट और न्याय बिगड़ कर सड़न बन जाता है। समानता से वर्ग और फिर टूट, जिससे न्याय से

वर्ण और सड़न का विपरीत क्रम पैदा होता है और फिर दुबारा समानता, हर सभ्यता में इन्सान की जिन्दगी का यही क्रम है। इन्सान का भाग्य समानता और न्याय, शक्ति और स्थायित्व के बीच झूलता है और एक की हिंसा व दूसरे की सड़न से अभिशप्त रहता है। यह दुहराने की जरूरत नहीं कि भाग्य का यह खेल उठती और गिरती हुई सभ्यताओं के मंच पर खेला जाता है और दोनों के बीच सनातन आपसी सम्बन्ध रहता है। अगर किसी उठती हुई सभ्यता में समतामूलक वर्ग तेजी से आते हैं तो ये वर्ग बदले में उसे अधिक सशक्त और प्रौढ़ बनाते हैं। अगर वर्ग संघर्ष की तेजी से किसी सभ्यता की गिरावट में तेजी आती है, तो इस गिरावट से वर्ग संघर्षों की तेजी बढ़ती है। इसी तरह वर्णों के साथ भी आखिरी तौर पर किसी सभ्यता के पतन और वर्णों की सड़न के बीच एक आपसी प्रक्रिया चलती है।

क्या मनुष्य भाग्य में यही है कि वह सभ्यताओं के इस उत्थान और पतन को देखे। अपने सामने इतिहास के अनन्त रेगिस्तान को फैला हुआ पाये और बन्दर की तरह, वर्ग और वर्ण की डालों के बीच झूलता रहे। इतिहास के कुछ दार्शनिकों ने यह कह कर मनुष्य में विश्वास भरने की कोशिश की है कि अनुभव के ये चक्र स्थिर या निष्क्रिय सतहों पर नहीं बल्कि रचनात्मक सतहों पर दुहराये जाते हों। यहाँ शब्द लालित्य से विवेकपूर्ण तर्क का काम लेने की कोशिश की गई है। स्वस्थ्य बौद्धिकता की जगह रोगी आध्यात्मिकता के विश्वास से काम लिया गया है। हाल के ऐतिहासिकों के विश्वास की रचनात्मक ढंग से दुहराई जाने वाली सतहों और भौतिकवादी व्याख्यताओं की निरन्तर या रुक कर होने वाली प्रगति में अधिक अन्तर नहीं है। इतिहास में ऐसे विश्वास का प्रमाण नहीं मिलता उसके चक्र निश्चय ही अलग अलग सतहों पर दुहराये जाते हैं। लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं है कि सतहों के इस फर्क को रचनात्मक या प्रगतिशील कहा जा सके। प्राचीन भारत या रोम और आधुनिक यूरोप और सारी

मानवी दुनिया के वर्ग एक दूसरे से भिन्न हैं लेकिन यह फर्क रचनात्मक नहीं है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान और चीन के वर्ग और जर्मनी और रूस और तत्कालीन सारी मानवी दुनिया में वर्ण व्यवस्था की कोशिशों में फर्क है। लेकिन यह फर्क रचनात्मक नहीं है। चलते हुए चक्रों के इस फर्क को सामन्त शाही से समाजवादी सभ्यता में प्रगति कहना उतना ही गलत है जितनी यह कल्पना कि आधुनिक मशीनी प्रगति एक ऐसी दुनिया है जिसमें गरीबी नहीं।

ऐतिहासिक नियति ने सभ्यताओं के गुणों में चाहे जो भी फर्क रखे हैं, शरीर की गरीबी और दिमाग के कष्ट आज भी उतने ही अधिक हैं जितने इतिहास में पहिले किसी समय। एक अरब से अधिक लोग, दुनिया की करीब दो तिहाई आबादी गिरी हुई जिन्दगी बिता रहे हैं। ऐसा आबादी बढ़ने के फलस्वरूप उपलब्ध जमीन घटने से हुआ है, या अन्य किसी कारण से, यह विस्तार की बात है। पूंजीवादी सभ्यता के उपनिवेशों में रहनेवाले इन डूबे हुए लोगों को अगर पिछले और पिछड़े हुए युगों या वर्गों से उनकी प्रगति के बारे में बताया जाय तो वे हंसते हंसते मर जायेंगे। इतिहास को बनाने या समझने में एक बड़ी हानिकारक गलती यह होती है कि आंशिक कौशल को पूर्ण कौशल समझ लिया जाय और दुनिया के एक हिस्से की हालत को सारी दुनिया पर लागू मान लिया जाय। हम इतिहास के अब तक सूखे रेगिस्तान को ऐसी मृग मरीचिकायें न पैदा करने दें जिससे हमें ऐसे बाग देखने का भ्रम हो जिनके बीज भी अभी नहीं बोये गये हैं। मानव इतिहास के चक्र जिन सतहों पर दुहराये जाते हैं, वे भिन्न जरूर हैं लेकिन इन्सान की समझ ही उनके फर्क को रचनात्मक बना सकती है। मनुष्य के भाग्य के निर्णयात्मक मोड़ों पर, शायद हमेशा ही चुनाव आंशिक कौशल और पूर्ण कौशल के बीच रहा है। आज भी एक निर्णयात्मक मोड़ सामने है और वह चुनाव भी हमारे सामने है। वर्ग और वर्णों के अन्दरूनी बदलाव और उठती व गिरती हुई सभ्यताओं के बाहरी परिवर्तन

को समझ लेने से हम वर्णों और वर्गों का विनाश करने और इतिहास के बढ़ते हुए रेगिस्तानों को खतम करने की ओर कुछ दूर बढ़ते हैं ।

पश्चिमी सभ्यता में जो अपने गतिरोध पर पहुंच गई है और जिसका पतन नजदीक हो सकता है, शक्ति और समृद्धि का बदलाव हो रहा है। पश्चिमी यूरोप अब महाद्वीपों का बादशाह नहीं रहा। वह स्थान अमेरिका ने ले लिया है और रूस प्रतिद्वन्दिता कर रहा है। एशिया और प्रशान्त की ओर होने वाला स्थानान्तरण कुछ ज्यादा गहरा है। इसके अलावा पश्चिमी यूरोप में, जहां शक्ति घट रही है, वर्ण व्यवस्था कायम करने की कोशिशें काफी साफ दिखाई देती हैं। विश्व एकता या वर्ण विहीन समाज की स्थापना की कोई उम्मीद नहीं दिखाई जा सकती। वह स्वर्ण युग जिसमें गरीबी और युद्ध का अन्त कर दिया गया हो, जिसमें मनुष्य ने जिन्दगी का अर्थ पा लिया हो, और जीने का ऐसा ढंग निकाल लिया हो जिसमें अन्दरूनी सन्तोष और बाहरी शान्ति हो, एक पुराना भ्रम मालूम पड़ता है।

मनुष्य के विकास में अगर एक और चालक शक्ति न होती, तो मैं मानता हूं कि इस व्याख्या से मानवी भाग्य का बड़ा ही निराशापूर्ण चित्र बनाता। निराशापूर्ण, इतिहास के द्वारा जीवन का भेद प्राप्त करने के प्रसंग में, इस अर्थ में नहीं कि जीवन का अर्थ मालूम ही न किया जा सकता। हो सकता है कि जीवन के अर्थ की कुंजी केवल इतिहास में ही न हो सकता है कि जीवन के अर्थ की कुन्जी इतिहास के बाहर मिले। फिर भी जहां तक ऐतिहासिक विकास का सवाल है, यह दृष्टिकोण निराशापूर्ण होता और यह अटूट चक्र सिद्धान्त होता। इसका अर्थ होता कि युगों और ऋतुओं का चक्कर चलता रहता है और शक्ति या समृद्धि और गरीबी या सड़न बारी बारी से आते रहते हैं। हम बुद्धि से किसी ऐसे भविष्य की बात नहीं सोच सकते थे जिसमें सारी मानवता अपने को इस तरह समन्वित कर ले कि राष्ट्रों के बाहरी संघर्ष और वर्गों के अन्दरूनी संघर्ष का अन्त हो जाय। ऐतिहासिक विकास की तीसरी चालक शक्ति से कुछ उम्मीद मिलती

है कि जीवन का एक अर्थ सीमा तक यद्यपि पूरी तरह नहीं, इतिहास में मिल सकता है।

राष्ट्रों और सभ्यताओं का उत्थान और पतन हमेशा होता रहा है और के विद्यार्थियों के रूप में हम सब ने ब्रिटिश साम्राज्य के उत्थान और फैरो साम्राज्य के पतन गुप्त साम्राज्य के उत्थान और रोम साम्रज्य के पतन आदि का अध्ययन किया होगा और इनके कारण भी पढ़े होंगे। जो विभिन्न कारण स्कूलों में पढ़ाये जाते हैं, उन्हें सभी लोग भूल जाते हैं। उनकी संख्या बहुत होती है और पढ़ते समय तो उनमें कुछ तथ्य मालूम पड़ता है लेकिन अन्ततोगत्वा जब हम उनके बारे में और इतिहास को चलाने वाली बुनियादी शक्ति के बारे में सोचते हैं तो ये कारण उतने सार्थक नहीं मालूम पड़ते जितना बीस वर्ष पहिले बर्लिन की बातचीत में मार्क्सवादी द्वारा दिया गया उत्तर। किसी राज्य के पतन का कारण गिनते समय हमें अन्दरूनी फूट और द्वेष, सामाजिक संगठन की कमी और कट्टरता आदि बताए जाते हैं। मेरा विश्वास है कि मैं एक ही सूची में हर राज्य और हर सभ्यता के पतन के कारण गिना सकता हूं। इनमें अनिवार्य ही अन्दरूनी द्वेष और कट्टरता और किसी प्रकार की विलासिता या शान शौकत शामिल होंगे। लेकिन इस कट्टरता, अन्दरूनी फूट, द्वेष और विलासिता का कारण क्या है? ऐसा क्यों है कि बाद के रोमन सम्राटों के जीवन में विलासिता बढ़ी? अवध के नवाब की जिन्दगी विलासिता के सामानों की सूची क्यों है, जिनमें से कुछ का मुकाबला न पहिले कभी हुआ था न बाद में? जब कोई सभ्यता गिरने लगती है जो जिन्दगी में कोई अर्थ या उद्देश्य नहीं रह जाता। अन्य समाजों के बाहरी दवाब बढ़ने से और अनिष्ट की निरुपाय आशंका से जिन्दगी के पुराने तरीके खराब लगने लगते हैं और अनुशासन में कोई खुशी नहीं रह जाती। वर्ग की शक्ति व्यभिचार में बदल जाती है और वर्ण का स्थायित्व प्रभाव में और हर व्यक्ति में विलासिता या लूट की एक गन्दी चाह भर जाती है। किसी सभ्यता के पतन के सभी पहलुओं

का बुनियादी कारण समाज की बाहरी और अन्दरूनी गतियों के चरित्र में है, जो अधिकतम कौशल के बिन्दु तक पहुंच गया है और अब और आगे नहीं जा सकता और जिसके लिए प्रकृति के पुराने दैत्याकार पशुओं की तरह अपने ही बोझ से या बाहरी दबाव से गिरना अनिवार्य है। इतिहास के रेगिस्तान में अमर सौरभ पूर्ण हरियाली उगाना, जिस पर हर युग और क्षेत्र अपनी पसन्द के फूल उगा सके इसके लिए आंशिक यद्यपि अधिकतम कौशल से भिन्न पूर्ण कौशल का भेद जानना होगा इस भेद को प्रकट करने में मानवी विकास को चलानेवाली तीसरी शक्ति निर्णायात्मक महत्व की है। जब कि वर्ग और वर्ण एक दूसरे का पीछा करते रहे हैं, और किसी समाज की शक्ति उसके साथ ही उठती और गिरती रही है, मनुष्यता में हमेशा शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य का एक चक्र चलता रहा है। उठते हुए समाजों ने विजय के द्वारा या एकाध बार अपना उदाहरण रख कर मानव जाति की एकता स्थापित करने की कोशिश की है। ऐसी एकता कभी बुद्धि पूर्वक नियोजित नहीं की गई और अधिकांश में यह अन्य शक्तियों का अनजाना या अनिश्चित परिणाम रही है। अभी तक यह कभी सारी मानवता तक फैली भी नहीं लेकिन उसका वाहक हमेशा कोई एक राष्ट्र या सभ्यता रही है जिसकी शक्तियां अपनी सीमा तक काम करने के बाद खतम होती जा रही हैं।

मानवता का सामीप्य

शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य के जो क्रम ज्ञात हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण क्रमों में एक वह भी था जिसे हिन्दुस्तान के लोगों ने चलाया था। हमारे महान पुरखे और शायद कभी कभी पुरखिनें भी दूर दूर तक गये और जिस देश में भी वे गये उसी को बिना मुर्दा रूढ़ियों और संस्कारों की परवाह किये अपना घर बना लिया। वे अब नहीं रहे क्योंकि उन्होंने अपनी

अलग सन्तानें नहीं छोड़ी, लेकिन विलीन होते हुए भी, वे हजार रूपों में उन लोगों में प्रकट हुए जिनके बीच रहकर उन्होंने प्यार किया। उन्होंने वह रूप धारण किया जिसे संस्कृत में बड़े सुन्दर ढंग से रक्त-बीज कहा गया है। समूचे पूर्वी एशिया में उत्तर से दक्षिण तक असंख्य आबादियां देखी जा सकती हैं जिनके चेहरों पर हिन्दुस्तान की छाप है। बेंकाक के लुम्बनी पार्क में, या अन्यत्र कहीं आज का हिन्दुस्तानी यात्री अक्सर किसी ऐसी लड़की या लड़के के सामने पड़ जाता है जिसमें निश्चय ही १५०० वर्ष पहिले के हिन्दुस्तानी का रक्त है, जो ऐसी भाषा बोलता है जो उसकी समझ में नहीं आती लेकिन जिसमें उसकी अपनी भाषा से लाकर मिलाए हुए शब्द भरे पड़े हैं और जो उसमें एक ऐसी पुरानी कहानी की याद जगाता है जिसे भूलना उतना मुश्किल है जितना उसका विस्तार से याद आना। किस हिन्दुस्तानी लड़के ने अपनी दादी से आसाम की पहाड़ियों में, ब्रह्मा में, और उससे भी आगे रहने वाली जादूगरनी सुन्दरियों की कहानी नहीं सुनी जो आदमी को भुलावा देकर उसे भैंसा बना देती हैं और अपने घरों में बांध रखती हैं? किसी पुरानी ईर्ष्या की जातीय स्मृतियां निश्चय ही इस कहानी में ले आई गई हैं। इतिहास का दार्शनिक इस कल्पना की याद कर सकता है कि क्या कभी ऐसी खुशनुमा ईर्ष्यायें सार्वजीनिक और जीवित और सारी दुनिया के स्त्री-पुरुषों के जीवन का एक अंग बन जायेंगी? मुझे उन पुरानों पर गर्व है जो मानवी सामीप्य के वाहक थे लेकिन साम्राज्यवादी नहीं। लेकिन वह स्वयं ही सामीप्य का विरोधी है। इससे मानव जाति का सामीप्य नहीं होता, बल्कि मानव-जाति के कुछ अंशों को वे लोग कृत्रिम ढंग से अपने में मिला लेते हैं जो गर्व करने की हालत में होते हैं। अतः हम यह याद रखें कि दुनियां की करीब-करीब सभी जातियां किसी न किसी समय गर्व करने की हालत में रही हैं और शारीरिक तथा सांस्कृतिक सामीप्य की वाहक रही हैं। सारी मानवता इस क्रम पर गर्व कर सकती है और उसी गर्व के साथ उस क्रम को नियोजित कर सकती है जो अब तक बिना योजना के चला है।

उसकी विभिन्न बहिनों और पुत्रियों, प्राकृत और पाली के साथ संस्कृत भाषा की सुनहरी लड़ी को याद रखना अच्छा है जो सारे दक्षिणी एशिया और कुछ कम सीमा तक एशिया से दूसरे हिस्सों को भी एक करती है। जकार्त्ता या बैंकांग में प्रधान मन्त्री, या 'पंचशिला' या 'रथ मनु' ऐसे शब्द अक्सर मिल जाते हैं और सोराबाया के एक समाजवादी की पत्नी और बच्चों, जिनके साथ मैंने भोजन किया, के नाम थे, रुक्मावती, पद्मावती धर्यावत और युद्धनिसा और वह परिवार मुसलमान था। रथ-मनु एक बड़े ही महत्वपूर्ण स्मारक का नाम है जो भाई लोगों ने अपनी १६३२ की क्रांति की याद में बनाया है। यह बैंकांक की मुख्य सड़क के बीच में एक छोटे से पत्थर का स्तम्भ है जिस पर पत्थर की एक किताब रखी हुई है जो उसका संविधान है और 'रथ-मनु' साफ ही 'राष्ट्र-मनु' (राष्ट्र का नियामक) की सुदूर यात्रा का परिणाम है। दक्षिणी एशिया की भाषाओं में ऐसे बदले हुए शब्दों की संख्या उन शब्दों से कहीं ज्यादा है जो अब भी अपने पुराने रूप में हैं। इससे यह सवाल मन में उठता है कि क्या अपने आप, अनियोजित ढंग से होने वाला सांस्कृतिक सामीप्य, एक साथ ही, एक केन्द्र से फैलने वाला और उसी केन्द्र की ओर बढ़ने वाला नहीं होता ? दूर टोकियो में चेहरों या भाषा में ऐसे चिन्ह पाना मुमकिन नहीं लेकिन कामाकारा और नारा में गौतम बुद्ध की विशाल मूर्त्तियाँ उस महान युग की याद दिलाती हैं जब हिन्दुस्तान जातियों और संस्कृतियों के मिश्रण का अगुआ था, सैनिक ढंग से नहीं, बल्कि दूसरे ढंगों से। निश्चय ही वह एक फैलाव था। मानव जाति के अलग-अलग हिस्सों में शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य का यह क्रम चलता रहा है, चाहे विजयों के द्वारा या दूसरी रीतियों से, खास तौर से उन स्थानों पर जहाँ दो राज्य मिलते हैं। सीमायें अब भी उत्तेजक होती हैं क्योंकि वहाँ पर जातियाँ मिलती हैं। वे युद्ध में मिलती हैं और प्यार में और युद्ध से भी बाद में प्यार ही होता है, कम से कम पहिले तो ऐसा ही होता था।

मानव जाति का हिन्दुस्तानी अंग और उसकी संस्कृति किस प्रकार पूरब की ओर उत्तर में जापान तक फैली और अपने तथा इन इलाकों में रहने वाले लोगों से बीच शारीरिक तथा सांस्कृतिक दोनों तरह का सामीप्य स्थापित किया, इसकी कहानी के साथ यह भी स्मरण करना चाहिए कि ऐसा ही क्रम दुनियां के सभी हिस्सों में चलता रहा है और लगभग सभी जातियां उसकी वाहक रही हैं। उदाहरण के लिये अरबी भाषा अफ्रीका की लगभग सभी नीग्रो भाषाओं का आधार है और दो हजार बरसों से भी ज्यादा समय से सिकन्दरिया जातियों का संगम रहा है। उन क्षेत्रों में, चाहे सिकन्दरिया या काहिरा या निकोसिया, चेहरों की विभिन्नता अपनी ओर ध्यान खींचती है और एक कोमल स्मृति जगाती है कि कितनी ही जातियां और उपजातियां यहां मिली होंगी। भारतीय परम्परा से अनुसार जहां दो नदियां मिलती हैं वह तीर्थस्थल होता है। जहां दो या अधिक जातियां मिलती हों, वहां भी तीर्थस्थल होना चाहिये क्योंकि मानवजाति के शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य का क्रम उस स्थान पर चला है।

अन्य भाषायें भी फैली थीं। अरामिक भाषा जिसमें ईसा बोले थे, भाषा के रूप में तो नहीं फैली, लेकिन उसकी लिपि बहुत दूर दूर तक गई। ग्रीक और लैटिन भाषाओं के अलावा, जो आज भी अपनी प्रत्यक्ष सन्तानों में जीवित हैं और रक्त बीज की तरह बहुतेरी आधुनिक भाषाओं में घुस गई हैं, अंग्रेजी भाषा का फैलाव निश्चय ही आश्चर्यजनक हुआ है। लेकिन इस आखिरी फैलाव को औरों से अलग समझने की गलती नहीं करनी चाहिये क्योंकि अपने समय की चीज बहुत बड़ी मालूम होती है, उसमें शायद वही चीजें दुहराई जा रही हैं जो दूरी के कारण छोटी लगती हैं। रक्त और भाषा के अलावा मनुष्य की जिन्दगी के अन्य पहलुओं में भी सामीप्य रहा है, जैसे विचार, और धर्म, पैदावार के तरीके और रहन सहन का ढंग।

धर्म परिवर्त्तन को मानने वाले तीन बड़े धर्मों, बौद्ध, इसाई और इस्लाम, के फैलाव में करीब करीब सारी दुनिया आ गई है। बाहर जाने में अपना रूप और ध्वनि बदल लेने वाले शब्दों की तरह यहां भी एक चेतावनी दे देने की जरूरत है। अगर मानवजाति में असंख्य तरीकों से मिलने के क्रम रहे हैं तो उसमें बिखराव भी आये हैं और समय के साथ फर्क बढ़ते गये हैं।

इस बारे में अब भी बड़ी अटकल लगाई जाती है कि प्रमुख जातियों के आदि निवास कहां थे, वे किस प्रकार फैलीं और एक दूसरे से टकराईं। फिर भी यह विश्वास करने का काफी कारण है कि इन बिखरावों ने एक जाति के कई हिस्से कर दिये, बुनियादी एकता के एक समूह को विभिन्न चरित्र वाले कई समूहों में बांट दिया आज मंगोल या आर्य या निग्रो जातियों के कई कई समूह हैं जबकि किसी समय हर जाति का एक ही समूह था। तब, क्या यह कोरी भावुक कल्पना ही नहीं होगी कि हम पुनर्मिलन के क्रमों पर ध्यान केन्द्रित करके, बँटवारे के इन क्रमों को भुला दें? किसी परीक्षित सिद्धान्त को उस समय तक मान्यता नहीं मिल सकती जब तक उसके पक्ष में ऐतिहासिक प्रमाण न इकट्ठा हो जायँ। फिर भी उचित रीति से अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसा मालूम होता है कि अपने इतिहास के बिल्कुल शुरू में मानव जाति कुछ बड़े बड़े कारागारों में रहती थी और आपस में उनका किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न था। ये कारागार चाहे बहुत बड़े इलाकों में फैले रहे हों, फिर भी उस समय उनकी दीवालें अभेद्य थीं। इन कारागरों में मानव जाति का एक एक अंग पूर्ण अलगाव में रहता था। उनमें बड़ी अपरिपक्वता रही होगी, हालांकि कुछ लोग उसे 'शुद्ध और अमिश्रित' कह कर सुन्दर बनाना चाहते हैं।

जब एक दूसरे से असम्बन्धित मानवता ने अपने करागार तोड़े तो वह खुशी या डर से पागल हो गई और उसने खोज और इतिहास के जोखिम उठाये और प्रकट रूप से अपने को और भी अधिक बांट लिया। लेकिन यह बंट-

वांरा ही शायद उस समय एक ऐसा रास्ता था जिससे भविष्य का पुनर्मिलन सम्भव हो सके। निश्चय ही हर सफर और पड़ाव के बाद एक नया बंटवारा हुआ, लेकिन अगले सफर या उसके बाद वाले सफर में यात्रियों के दल को अपने ही जैसा अन्य जाति का दल मिल गया जो अपना करागार तोड़ कर निकला था। अजनबियों ने, जिन्होंने पहिले शायद एक दूसरे का स्वप्न भी नहीं देखा था, मिल कर कुछ हैरत से अभिवादन किया और अपनी आंखों और हाथों से बातें कीं। चाहें कितने भी छोटे रूप में, वहां शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य का क्रम शुरू हुआ। इस पहिली शुरूआत से लेकर सैद्धान्तिक फैलावों तक, मिश्र के अखनतान या उपनिषदों से कान्फूशियस या कान्ट से लेकर आधुनिक हिन्दुस्तान के गांधी तक, एक लम्बी अवधि बीती है, लेकिन यह मिलनों और सामीप्य का एक उतना ही लम्बा इतिहास भी है। पैदावार के तरीकों, या रहन सहन, या इस्तेमाल की चीजों के सामीप्य की सूची बहुत ही लम्बी है। अपने समय में ढाका का मलमल दुनियाँ में उतनी ही दूर दूर तक फैला था जैसे आज अमेरिका का नाइलन। व्याट के मशीन से कातने और बुनने के तरीके में बराबर सुधार होते रहे और आज वह सारी दुनियां में फैल गया है। अगर हालीवुड ऐसी प्रयोग शाला है जहां बनाव श्रृंगार से चेहरे एक दूसरे के समान बना दिये जाते हैं और बहुतेरे भुलावे हो जाते हैं, तो सारी दुनियां आज उन प्रयोगों का क्षेत्र है। फिर भी, शायद बारूद ही वह वस्तु है जो सारी दुनियां में सब से ज्यादा तेजी से फैली।

मोटर या बेतार या हवाई जहाजों ने दूरी का अन्त कर दिया है, ऐसा कहना साधारण बात हो गई है। चाहे बादलों की तहों पर उड़ने वाले हवाई जहाज या आधुनिक होटल, दो लोगों के बीच की दूरी को खतम करते हों या नहीं, दुनियां में ऐसा कोई देश नहीं जो आने जाने या संदेश ले जाने, लाने के इन तरीकों का इस्तेमाल न करता हो। सभी ऐतिहासिक युगों में मनुष्य शैलियां और भाषा में, इस्तेमाल की चीजों और पैदावार के तरीकों में

विचार और धर्म में, एक दूसरे के समान बनने की कोशिश करता रहा है लेकिन हमेशा भूतकाल की सीमाओं और वर्त्तमान के अन्तदेशों, की हदों के बाहर जिस पर गरीबी ने हमला किया कोई इस गर्वीले विचार से अपने दिमाग को गन्दा न करें कि किसी एक राष्ट्र के लोगों ने ऐसा किया। यह मनुष्य के विकास का एक अंग था और जब कभी कोई राष्ट्र विशेष बढ़ा और उन्नत हुआ तो वह अपने दूसरे क्षेत्रों में भी ले गया और उनमें मिला और साथ ही उनसे कुछ लेकर अपने देश में लाया। यह इतिहास के आरम्भ से चलता रहा है।

संस्कृति के क्षेत्र में मुझे इस क्रम को कुछ आधुनिक उदाहरण मिले हैं। हमारी दुनियाँ के हिन्देशियाई हिस्से में रोंगेन नामक एक नाच का चलन था। भीलों और बनवासियों के साथ जो हिन्दुस्तानी रहे हैं, उन्होंने देखा होगा कि स्त्रियों और पुरूषों के समूह एक दूसरे के सामने खड़े होते है, एक दूसरे की ओर बढ़ते हैं, फिर पीछे हटते हैं और घेरे में नाचते हैं। लेकिन वे एक दूसरे से अलग ही रहते हैं, शायद इसलिये कि हिन्दुस्तान में स्त्री का पुरूष को और पुरूष का स्त्री को छूना उचित नहीं समझा जाता। मुझे बताया गया कि रोंगेन काफी ऐन्द्रिक नाच समझा जाता है लेकिन ऐसा जिसमें परिवार के सभी लोग हिस्सा ले सकें। यह नाच किसी तरह अमेरिका पहुंच गया और यद्यपि नाचने वाला जोड़ा बिल्कुल अलग तो नहीं हुआ लेकिन बारी बारी से दूर और नजदीक होना कायम रहा। यह नाच बूगी बूगी कहलाता है। अब यह 'जागेट मार्डन' के रूप में सिंगापुर में वापस आ गया है और शायद दुनियाँ का सब से ऐन्द्रिक नाच है। पुरूष स्त्री को नहीं छूता और दोनों अलग रहते हैं लेकिन एक दूसरे की ओर बढ़ते समय बड़ा ही ऐन्द्रिक अंगचालन होता है और फिर वे पीछे हटते हैं और यह क्रम चलता रहता है। दो बिल्कुल अलग अलग व्यक्ति रहते हैं लेकिन नाच की चुम्बकीय और खुली ऐन्द्रिकता उन्हें एक ऐसे घेरे की पकड़ में इकट्ठा रखती है जो हर क्षण अपना स्थान बदलता रहता है। इस विकास पर शायद इस्लाम

धर्म का कुछ प्रभाव हो। लोग शायद अपने धर्म के नियमों को तोड़े बिना ही नाच का मजा लेना चाहते हों। लेकिन अगर सामीप्य का यह क्रम जारी रहा तो आगे और बातें भी हो सकती है।

बाली में अनुपम शामेलान है जिसमें मुंह से बजने वाले कई बाजे होते हैं और जो द्वीप के हर गाँव में मिलता है। उसके आर्केस्ट्रा में पचास या इससे भी ज्यादा आदमी हो सकते हैं, बजाने वालों में दस वर्ष के बालक से लेकर सत्तर वर्ष के बूढ़े तक हो सकते हैं, जिनके पास न कोई लिखित संगीत होता है न कोई निर्देशक। गामेलान की इस निधि का इस्तेमाल अब बाली के बड़े शहर डेन पासेन में हालीवुड की तस्वीरों का विज्ञापन करने के लिये किया जा रहा है। यह भी सांस्कृतिक सामीप्य के क्रम का एक भाग है, यद्यपि दुर्भाग्यपूर्ण। गामेलान की गंभीर मधुर ध्वनि पर अब भी बाली में बहुत कुछ होता है और बड़े तटीय शहरों को छोड़ कर बाली की स्त्रियाँ अपनी सुन्दर लेकिन ढँकी हुई कमर और अपने सुगठित लेकिन खुले हुए वक्षों को, जो शायद खुले होने के कारण ही सुगठित होते हैं, हिलाती हैं। लेकिन अब तो शहर फैशन चलाते हैं और बाली के गवर्नर की पत्नी मेरी इस बात पर बड़ी अचम्भित हुईं कि विदेशी तरीकों की इस प्रकार बिना सोचे बाचारे नकल करने में हानि भी है। सम्भव है कि कुछ सांस्कृतिक मिश्रणों का फल समय बीतने पर यह हुआ हो कि एक की चीज दूसरी जगह चली गई हो। जिस समय तक अमेरिका की स्त्रियाँ, कम से कम कैलिफोर्निया के कुछ गर्म इलाकों में, अपने सुगठित वक्ष आवरणहीन कर के चलने लगेंगी, तब तक बाली की स्त्रियाँ अपने ढले हुए वक्षों को चौथाई दर्जन ब्लाउज कहलाने वाले वस्त्रों से ढँक लेंगी। कुछ लोगों का इतिहास के इस पहलू में गम्भीरता नहीं मालूम पड़ेगी, लेकिन कितने लोगों को याद है कि बीस सदी पहिले किस विदेश मन्त्री या प्रधान मन्त्री ने किस देश में क्या कहा था। महान सैनिक दस या बीस सदी तक याद रखे जाते हैं। धर्म के महान प्रणेता तो खैर अमर हैं। लेकिन जहां तक लड़ाइयों, योद्धाओं और राजनीतिज्ञों

की बात है, बैंकाक का चेहरा, चाइनाटाउन, या नारा की मूर्ति या सान फ्रांसिस्को में चाइनाटाउन, या पेरिस में मिश्री ओबेलिक, यही बच रहते हैं क्योंकि इतिहास की बुनियाद में बच रहने वाली चीजें यही हैं। जातियों और राष्ट्रों का मिलना और उनकी संस्कृतियों और उनके शरीरों का मिलन ही बचा रहता है।

इस शारीरिक और संस्कृतिक सामीप्य की ज्ञात सीमायें हैं, क्योंकि अभी जितनी भी कोशिशें हुई, कोई इतना नहीं फैली कि सारी दुनिया पर छा जाय। ग्रीक, या संस्कृत या अरामिक या अरबी समय समय पर फैली, लेकिन कभी इतनी नहीं कि सारी दुनियाँ में फैल जाय। विभिन्न संस्कृतियां अपने पूरब या पश्चिम या अन्य दिशाओं में फैली और बहुतेरे लोगों को अपने नियंत्रण में लाईं पर कभी सारी दुनियां को नहीं। अतः कुछ लोग सोच सकते हैं कि यह शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य एक हद तक ही हो सकता है और कभी सरी दुनियां में नहीं फैल सकता। ऐसा ही होता, अगर मनुष्य के सामने केवल विजय का या एक संस्कृति के एकतरफा फैलाव का ही रास्ता होता। भूतकाल में विजयों के द्वारा ही, अक्सर सैनिक और कभी कभी सैद्धान्तिक दो राष्ट्रों के बीच सामीप्य होता था। लेकिन अब ऐसी स्थिति है कि स्वेच्छा से सामीप्य आये जिसमें किसी समूह को दूसरे का गुलाम न बनना पड़े और जिसके द्वारा दुनियां के सभी लोग बुद्धि पूर्वक नियोजित करके मनुष्य जाति का एक बहुरंगी मेल हासिल करें। लेकिन जो सम्भव है, वह आवश्यक नहीं।

आन्तरिक सामीप्य

दो या अधिक राष्ट्रां के बीच बाहरी सामीप्य से अलावा एक राष्ट्र के अन्दर अन्दरूनी सामीप्य भी हुआ है। इसमें कोई शक नहीं कि इतिहास

के शुरू से ही असमानता रही है लेकिन समानता हासिल करने की मनुष्य की इच्छा का इतिहास भी उतना ही पुराना है। और युरोप के विभिन्न भागों में आश्चर्यजनक सीमा तक अन्दरूनी समानता हासिल कर ली गई है। स्वीडन का समाजवाद अधिकांश आमदनियों को एक और बीस से न्यूनतम और अधिकतम अनुपात के अन्दर ले आने में सफल हुआ है। स्वीडेन में सड़क पर झाड़ू देने वाले या कूड़ा साफ करने वाले की तनख्वाह से प्रधान मन्त्री की तनख्वाह पाँच गुनी से कम ही है। घरेलू नौकरों के बारे में अधिकांश पश्चिमी युरोप में यह कानून है कि उसका अपना अलग कमरा होना चाहिये और इससे अन्दरूनी सामीप्य का कुछ पता चलता है। पूंजीवादी अमेरिका में भी किसी राज्य सरकार के मन्त्री और इंजन चलाने वाले की तनख्वाहें करीब करीब एक जैसी ही होती हैं। कल्याणकारी राज्य के विचार ने अन्दरूनी सामीप्य को और भी अधिक बल दिया है। बेकारी का बीमा, बच्चों और बुढ़ापे की पेन्शन, भोजन में सहायता, मुफ्त दवा, म्युनिसिपैलिटि के मकान और उच्च शिक्षा के लिए बहुसंख्यक वजीफे, इन सब की व्यवस्था के जरिये पश्चिमी राज्य उचित ही कल्याणकारी होने का दावा करता है और निश्चय ही उसने एक नागरिक को अपेक्षतया दूसरे नागरिक के समान बना दिया है। लेकिन यह विचार बिल्कुल नया या अनोखा ही है। रोम का राज्य भी अपने नागरिकों को बहुतायत से रोटी और मनोरंजन उपलब्ध करने का ध्यान रखता था। आधुनिक राज्य ने केवल रोम के पुराने विचार को न्यूनतम आवश्यकता के सभी क्षेत्रों में फैला दिया है और इन नीतियों में असन्तोष को कम करने की जरूरत के बजाय उदारता या भाईचारा अधिक महत्वपूर्ण बन गये हैं। किसी बढ़ती हुई सभ्यता में जागरूक जनता स्वभावतः सुविधाओं के लिए शोर मचाती है और ऐसे समय में सामाजिक अन्तरात्मा भी उदार होती है। सोवियट रूस के अन्दर बनती हुई वर्ण व्यवस्था ने शरीर और आत्मा के अन्य क्षेत्रों में चाहे जो कुछ भी किया हो, सभी के लिए दवा और सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा, इन दो क्षेत्रों में रूस के अन्दर जितना अन्दरूनी सामीप्य है, उसका मुकाबला कहीं और

नहीं। रूस इस बात का उचित दावा कर सकता है कि अपनी सारी आबादी के लिए साधारण दवा दारू और प्राथमिक शिक्षा का जैसा इन्तजाम वहाँ है वैसा कहीं और नहीं, यद्यपि दवा में उसकी विशेषज्ञता और कौशल और वहाँ की युनिवर्सिटी शिक्षा में बहुत कुछ कमी है।

आधुनिक सभ्यता के गोरे राज्यों में अन्दरूनी सामीप्य के क्रम ने इस अर्थ में कि एक नागरिक अपेक्षतया दूसरे के समान बन जाय, बड़ी प्रगति की है। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग राज्य दूसरों से आगे हो सकते हैं। लेकिन कल्याणकारी राज्य का ऐसा सामीप्य केवल धनी गोरे राष्ट्रों तक ही सीमित है और रंगीन चमड़ी राज्य केवल उसकी भ्रमपूर्ण बातें कर सकते हैं। बहुत ही गिरी हुई गरीबी की हालत में, लोग इतने आदी हो जाते हैं कि उससे खिलाफ शोर नहीं करते और उदारता इतनी मंहगी हो जाती है कि सामाजिक अन्तरात्मा के लिए मुमकिन नहीं होती, जब तक कि एक नई सामाजिक बुनियाद खोजने के लिए लोग फिर से न जगाये जाँय। असमानता, समृद्धि के उलटे अनुपात में बढ़ती है। जो राष्ट्र जितना अधिक समृद्ध होता है, उसके नागरिकों में असमानता उतनी ही कम होती है। गरीबी और असमानता साथ-साथ चलते हैं क्योंकि दोनों ही पिछड़ी हुई सभ्यता और कुठिंत अन्तरात्मा का परिणाम होते हैं। अत्यधिक गरीबी की हालत में जाग रूक सामाजिक अन्तरात्मा आध्यात्मिक क्षय लाने वाली होती है और भौतिक दृष्टि से साधनों के परे होती है। अतः अन्दरूनी सामीप्य का क्रम उन्हीं सभ्यताओं में केन्द्रित रहता है जो अपने अधिकतम संगठनात्मक कौशल तक नहीं पहुंची रहती या जिन्हें उस सीमा को पार किए अधिक समय नहीं हुआ रहता। आधुनिक सभ्यता प्रभु राज्यों की सीमाओं के अन्दर रहने वालों के बीच सामीप्य लाती रही है। स्त्रियों और पुरुषों के सामीप्य में, इस अर्थ में कि उनमें बहुत अधिक सामाजिक फर्क न हो, सीमाओं का अधिकतम महत्व है, क्योंकि जीवन के रहन-सहन का स्तर बराबर बढ़ाने का विचार,

जो अधुनिक सभ्यता की विशेषता है, केवल राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर ही काम करता रहा है।

आज युरोप में किसी शाही घराने की महिला का किसी-किसी नौकरानी और किसी धोबिन का प्रधान मन्त्री की लड़की से फर्क बताना मुश्किल है। पेरिस में सड़क के किनारे के किसी चायखाने में बैठकर बिना ऊबे हुए घन्टों तक गुजरते हुए लोगों को देखा जा सकता है, लेकिन कौन क्या है, यह नहीं बताया जा सकता क्योंकि सभी लोग साफ सुथरे, और अच्छे कपड़े पहिने होते हैं। हिन्दुस्तान में भी धोबिनें और मेहतरानियाँ उतनी ही सुन्दर होती हैं जितनी अन्य स्त्रियाँ लेकिन कपड़े बड़े महत्वपूर्ण होते हैं और उनसे बड़ा फर्क पड़ जाता है। जब तक कपड़े की बारीकी से जाँच न की जाय, युरोप में कपड़ों में सापेक्षिक महानता दिखाई पड़ती है। स्टाकहोम की सड़कों पर मजदूर मुश्किल से ही कभी दिखाई पड़ते हैं क्योंकि वे साफ सुथरे कपड़े पहिने रहते हैं। युरोप में जितनी आर्थिक और सामाजिक समानता है, उससे यह मुमकिन है कि सभी युरोप वासियों को मनुष्य की प्रतिष्ठा प्रदान की जा सके। अतः यह सामीप्य न केवल राष्ट्रों के बीच भाषा, संस्कृति और जातीय मिश्रणों में हुआ है, बल्कि राष्ट्रों के अन्दर सामाजिक समानता की दिशा में भी हुआ है।

इतिहास में एक समय तीन महान व्यक्तियों, सुकरात, बुद्ध और कानफ़ूशियस ने लगभग एक ही समय में विचार और कार्य किया। लेकिन उनके राष्ट्र और उनके अनुयायी कई सदियों के बाद एक दूसरे के बारे में जान सके। यह समस्या भी खतम हो गई है। अगर आज तीन ऐसे बड़े विचारक हों, जो पुराने परम्परागत तरीकों से नहीं, बल्कि किसी नये तरीके से दुनिया का भाग्य बनाने की कोशिश कर रहे हों, तो वे कम से कम पत्र व्यवहार से द्वारा तो एक दूसरे से मिल ही लें। लेकिन बाधायें अब भी हैं। उसी आदमी की आवाज सुनी जाने की सम्भावना है जिसके देश में

सब से ज्यादा कारखाने और अणु बम हों। इस बाधा के बावजूद आज यह सम्भव है कि बुद्धि पूर्वक और स्वेच्छित योजना से, राष्ट्र के भीतर और बाहर दुनिया के राष्ट्रों के बीच शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य के क्रम को पूरा किया जा सके। युवावस्था में मैं सोचा करता था कि मरने के पहिले मैं मुलाटो, या मिश्रित रक्त वालों को दुनिया देख सकूँगा। हम सभी मिश्रित रक्त वाले हैं, यद्यपि बहुत पुराने वंश के, क्योंकि मिश्रण बहुत समय पहिले हुआ था। प्राचीन वंश के दोगलों के लिये आज कल के दोगलों का समर्थन करना कठिन होता है । लेकिन भारत ऋषियों में एक ने क्या जाति की परिभाषा 'समान प्रसवः जाति' अर्थात् उन सभी लोगों की एक जाति है जो एक दूसरे से बच्चे पैदा कर सकें, चाहे वे ब्राह्मण हों या भंगी, गोरे हों 'या काले, नहीं' की थी ? ये सभी एक दूसरे से बच्चे पैदा कर सकते हैं और अगर शारीरिक सामीप्य की भावना मनुष्य में छा जाय और यह शारीर तथा आत्मा दोनों की सी क्षेत्रों में जोखिम उठाने की चाह स्त्रियों और पुरुषों में बराबर बढ़ती जाय तो विश्व शांति और एक स्वर्ण युग का स्थायी आधार मिल जायगा। ऐसा कभी हो या नहीं, शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य के अन्य क्रम जो इस समय दिखाई पड़ रहे हैं, निर्णात्मक महत्व के हो सकते हैं।

प्रचलित सपने

कुछ ऐसे विचार आज भी प्रचलित हैं जो अभी राजनीतिक दृष्टि से निर्णयात्मक नहीं हैं लेकिन भविष्य में हो सकते हैं। आज किसी हिन्दुस्तानी के लिये यह मुमकिन नहीं कि वह अपने वोट को जरिये अमेरिका के राष्ट्र-

पति या रूस के प्रधान मन्त्री को गद्दी से उतार सके। उसका वोट केवल अपने शासकों के चुनाव तक सीमित है जो अक्सर युद्ध करते हैं। ये युद्ध हमारी किस्मत का फैसला जो कुछ भी हम अन्दरूनी तौर पर कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक करते हैं। फिर भी युद्ध और शान्ति के इस मामले में किसी की कोई आवाज नहीं और इनका फैसला ऐसे क्षेत्रों में ऐसे लोगों द्वारा होता है जिन पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं। यह बात सभी राज्यों के नागरिकों पर चाहे वे कितने भी शक्तिशाली या कितने भी कमजोर हों, लागू होती है। बालिग मताधिकार, जहां है भी वहां बहुत अधिक सीमित है। वह केवल राष्ट्रीय वोट का अधिकार है। अतः दूसरे लोगों के भाग्यों पर किसी भी राष्ट्र के लोग केवल युद्ध या धोखाधड़ी के जरिये ही प्रभाव डाल सकते हैं और इस कारण युद्ध और शांति के मसलों का किसी फैसला सार्वभौमिक मानवी वोट के जरिये नहीं बल्कि सीमित राष्ट्रीय वोट के जरिये होता है। इस बात की एक जोरदार मांग रखी जा रही है कि दुनिया के हर नागरिक का इन मामलों में कुछ दखल होना चाहिये कि अमेरिका या रूस या हिन्दुस्तान का शासन, कम से कम कुछ मामलों में, कैसे होता है।

विश्व सरकार, अगर कभी बनी, तो सभी विषय नहीं ले सकेगी, साधारण जो काम सरकार के नियंत्रण में होते हैं, उनमें से भी अधिकांश नहीं ले सकेगी लेकिन ऐसे विषयों की न्यूनतम सूची आसानी से बनाई जा सकती है जो एक विश्व पार्लिमेन्ट को जिम्मेदार विश्व सरकार के हाथ में होने चाहियें। बालिग मताधिकार पर चुनी हुई, सीमित शक्ति वाली इस विश्व पार्लिमेन्ट में राष्ट्रीय या क्षेत्रीय हितों की रक्षा के लिये उनका प्रतिनिधित्व घटाया या बढ़ाया जा सकता है। पार्लियामेंट का दूसरा सदन भी हो सकता है जिसमें दुनियां के सभी राष्ट्रों का समान प्रतिनिधित्व हो, या एक ही लोक सदन में बहुत अधिक आबादी वाले क्षेत्रों से दूसरे क्षेत्रों का डर मिटाने के लिये और शक्ति की मौजूदा असलियतों को

ध्यान में रखते हुए कुछ क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जा सकता है। आज जितनी भी सरकारें हैं, राष्ट्रीय होने के कारण वे सभी मानव जाति की एकता की पृष्ठभूमि में अत्याचारी हैं। राष्ट्रीय सरकारें तो हमेशा रहती ही होंगी, क्योंकि उनका अन्त करने वाली विश्व सरकार, अगर कभी राजनीतिक दृष्टि से ऐसी असम्भव बात हो भी गई तो, स्वयं एक अत्याचारी पिशाच बन जायगी। अतः विश्व सरकार को अपने आपको युद्ध और शान्ति, सैनिक शक्ति और विदेशी नीति सम्बन्धित पहलुओं, और दुनिया के बुनियादी स्वास्थ्य के लिये जरूरी न्यूनतम आर्थिक विषयों तक ही सीमित रखना होगा। ऐसी विश्व सरकार की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय सरकारों द्वारा मानवजाति के अत्याचार पूर्ण बँटवारे का अन्त हो जायगा और लोकतन्त्र को पहिली बार काम करने का खुला क्षेत्र मिलेगा। अच्छे लोकतन्त्र में भी बालिग मताधिकार कुंठित रहेगा, जब तक कि मिथ्या राष्ट्रीय गर्व या सुरक्षा की सच्ची भावनाओं के कारण पाखंड और हिंसा के लिये गुंजाइश रहेगी।

. .

कोई भी सभ्यता, जो सहमति द्वारा विश्व सरकार की भावना के बगैर चले, और अब तक किसी भी सभ्यता में यह भावना नहीं थी, अनिवार्य ही पूर्ण कौशल के बजाय अपने प्रारम्भिक चुनाव की खास दिशा में अधिकतम कौशल की ओर चलेगी। बहुतेरे कामों के लिये बालिग मताधिकार राष्ट्रीय ही रहेगा, लेकिन जिस प्रकार सामूहिक कार्य के बड़े क्षेत्रों में यह तेजी के साथ शहर या गांव का शक्ति सम्पन्न वोट बनता जा रहा है उसी प्रकार समय आने पर शान्ति और समृद्धि के सीमित क्षेत्रों में यह विश्व वोट भी बन सकता है। जनता की; जनता के द्वारा और जनता के लिये सरकार दुनिया में पहिली बार तभी मुमकिन होगी जब तक और समुदाय की, समुदाय के द्वारा और समुदाय के लिये सरकार और दूसरी ओर मनव जाति की, मानव जाति के द्वारा और मानव जाति के लिये,

सरकार कायम हो। शारीरिक और सांस्कृतिक सामीप्य का क्रम कभी विश्व वोट को अपने स्वाभाविक लक्ष्य तक पहुंचेगा या नहीं, यह विश्लेषण का विषय नहीं, सृजनात्मक कार्य का विषय है। विश्लेषण केवल इस बात पर ध्यान दे सकता है कि विश्व पार्लिमेन्ट को जिम्मेदार विश्व सरकार के लिये होने वाली फुसफुसाहट में कभी कभी शोर की शक्ति दिखाई पड़ती है।

विश्व सरकार अपने आप को मुर्दा बना लेगी अगर वह पूंजी के साधनों का एक अन्तर्राष्ट्रीय कोष नहीं बनाती जिसमें हर देश से उसकी शक्ति के अनुसार लिया जाय और हर देश को उसकी शक्ति के अनुसार दिया जाय। अगर यह बात साफ न मालूम पड़े तो कोई ऐसा तरीका निकाला जा सकता है जिसके अनुसार कोष में हर देश का हिस्सा उसकी आर्थिक स्थिति के अनुसार कम या ज्यादा हो। तब एक विश्व विकास संस्था सारी दुनिया के अविकसित इलाकों में पूंजीगत प्रसाधनों, मशीनों और मशीनी जानकारी का बँटवारा कर सकती है। इसमे अमेरिका की मिसौरी घाटी के लेकर लगभग सारा एशिया और अफ्रीका आ जायगा जो देश सब में ज्यादा देंगे। उनकी जरूरतें सब से कम होंगी, लेकिन लेना और देना सारी दुनिया में ही फैला होना चाहिये ताकि यह मानव जाति की एकता का प्रतीक बन सके। पूंजीगत प्रसाधनों के अन्तर्राष्ट्रीय कोष का यह विचार अभी शायद उतना बलशाली नहीं है। जितना विश्व पार्लिमेन्ट या विश्व सरकार।

इस सिलसिले में हाल ही में हिन्हुस्तान की पार्लियामेंट में हुई एक बहस और उस पर हुए निरर्थक शोर से काफी प्रकाश पड़ता है। हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी और भारत सरकार में आपस में बुढ़ियों का सा झगड़ा हुआ। अमेरिकन सुरक्षा के प्रति भारत की आधीनता साबित करने के लिए कम्युनिस्टों ने अमेरिकन आपसी सुरक्षा कानून के कुछ हिस्सों का उदाहरण देने की कोशिश की और वैसी ही बुढ़ौती के साथ सरकार ने भारत की स्वा-

धीनता सिद्ध करने के लिए अमेरिकन सहायता के बारे में हिन्दुस्तानी कानून क़ कलमें पेश करनी चाही। इसके विरुद्ध ब्रह्मा के प्रधान मन्त्री ऊ नू के एक भाषण का हवाला दिया जा सकता है जो उन्होंने हाल ही में दिया था और उसमें उन्होंने कहा कि अमेरिका ने जिन शर्तों पर ब्रह्मा को सहायता दी है, उन्हीं शर्तों पर वे रूस और चीन की सहायता पाने की कोशिश भी करेंगे। विदेशी सहायता के प्रश्न को साधारण मानवीय भाषा में कहने की जरूरत है। इस सिलसिले में अब भी देने वाले में बहुत अधिक भावुकता और अहंकार भरी मांगें रहती है और लेने वाले में विभिन्न प्रकार की लघुता भावना। एक ओर शान्ति और निःशस्त्री करण और दूसरी ओर विश्व विकास संस्था के प्रत्यक्ष संबन्ध की कुछ हल्की झलकियाँ दिखाई पड़ी है। मास्को या न्यूयार्क की सुरक्षा उनकी पलटनों में इतनी नहीं जितनी सारी दुनियाँ की बढ़ती हुई समृद्धि में। अपना एकत्रित धन बचाने के लिए गोरी दुनियाँ के प्रभु राज्यों को रंगीन चमड़ी वाले लोगों की सहायता करनी होगी कि वे अपने ढंग से न्यूनतम धन पैदा कर सकें। युरोप अमेरिका में बचाने का अर्थ है एशिया अफ्रीका में बनाना।

जब तक विदेशी सहायता को देने वाले और लेने वाले, दोनों का ही भला करने वाली दोतरफा बात नहीं माना जाता, तब तक छोटे-छोटे दान करने वाले का ओछा अहंकार और चोरी का सामान लेने वाले की ईर्ष्या सारी व्यवस्था को गन्दी करती रहेगी। इस प्रकार की विदेशी सहायता युद्ध की राह में रुकावट नहीं बन सकती। केवल एक विश्व विकास संस्था ही जो अन्दरूनी सामीप्य के विचार को सारी दुनियाँ के मन्च पर ले जाय और राष्ट्रीय सीमा के अन्दर बढ़ते हुए जीवन स्तर के विचार को बदल कर सारी दुनियाँ के लिए अच्छे जीवन स्तर का रूप दे, एक ऐसी विश्व सभ्यता ला सकती है, जिसमें गिरावट न आये। लेकिन ऐसे विचार के मार्ग में भयावह बाधायें हैं। लोग अपनी पलटन बढ़ाने के लिए ज्यादा आसानी से कष्ट उठा लेते हैं, क्योंकि यह ढाल उन्हें दिखाई पड़ती है, बनिस्बत दूसरे लोगों की समृद्धि

के लिए कष्ट उठाने थे, क्योंकि इससे होने वाली बचत ऊपर से दिखाई नहीं पड़ती और इसलिए आसानी से स्वीकार नहीं की जा सकती। इन्सान की बुद्धि क्या विश्व विकास संस्था ऐसे सामीप्य का नकशा कभी बनायेगी जो सभ्यताओं के उठने और गिरने और युद्ध को रोक सकेगी, इसका पता तो शायद अगला युद्ध खतम होने पर ही लगेगा।

मानवी सामीप्य का एक और कदम धनी राष्ट्रों की इस इच्छा में प्रकट हो रहा है कि वे अपनी मशीनी जानकारी पिछड़े हुए देशों के लिए उपलब्ध करें। इस इच्छा की मौजूदा अभिव्यक्तियाँ बहुत अच्छी नहीं हैं। वे सैद्धांतिक सन्धियों की जरूरत के साथ जुड़ी हुई है जिसमें इन्सान की भलाई की इच्छा स्वरक्षा के गलत विचार के आधीन हैं। इसके अलावा सारी दुनियाँ में मशीनी सहायता के पीछे यह विचार कि युरोप का मशीनी तरीका ही सारी दुनियाँ में लागू किया जाय, बिल्कुल गलत है। मशीनी तरीकों और विशिष्ट ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थितियों का संबन्ध पूरी तरह नहीं समझा जाता और इसके फलस्वरूप सारी दुनियाँ के आर्थिक जीवन में विज्ञान के बुद्धिपूर्ण इस्तेमाल के बजाय युरोपीय खेती और उद्योग-धन्धों को अविचार पूर्ण ढंग से दूसरी जगहों में ले जाने की कोशिश की जाती है। लेकिन इस तरह धनी देशों की दूसरों को मशीनी सहायता देने और पिछड़े हुए देशों की लेने की इच्छा का फल आखिर में सामीप्य नहीं प्रभुत्व होता है। ऐसा एक तरफा लेनदेन सिर्फ एक ही दिशा में चलता हैं और यह विचार में गलत और परिणाम में हानिकारक है। अभी तक मानवता ने किसी ऐसी सभ्यता का विकास नहीं किया जो इस योग्य हो कि सारी दुनियाँ में फैलाई जाय। हर जगह से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मशीनी सहायता के एकतफा कार्यक्रम के बजाय दुनियाँ को ऐसे दो तरफा कार्यक्रम की जरूरत है जिसमें कोई लेने वाला या देने वाल न हो, जिसमें दो या अधिक मानवी समूह एक साथ ही एक दूसरे से सीखें भी और सिखायें भी।

किन्हीं भी दो मानवी समूहों के सैद्धान्तिक और आर्थिक संबन्धों में ऐसा दो तरफा लेन-देन का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिलता। संयुक्त राष्ट्र-संघ और उसकी बड़ी ताकतों के मशीनी सहायता के कार्यक्रम एकतरफा लेन-देन के गर्वीले विचार पर आधारित हैं। लेकिन दूसरा रूझान शुरू हो गया है।

जन-संगठनों और व्यक्तियों ने रचनात्मक कार्य के अन्तर्राष्ट्रीय दस्तों के बारे में सोचना शुरू कर दिया है। सारी दुनिया के आदमी और औरतें ऐसे दस्तों में इकट्ठा होकर बिना पहिले से कोई राय बनाये हुए कि उन्हें क्या करना है सीखने और सिखाने की आपसी भावना लेकर अपने घरों के वातावरण से दूर मेहनत कर सकते हैं। छिट पुट व्यक्तियों ने ऐसा करना शुरू भी कर दिया है। हो सकता है कि ये भविष्य का संकेत हो। अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी युवक संघ जैसे कुछ गैर-सरकारी संगठन आजकल की इस विचार पर गौर कर रहे हैं। हो सकता है कि भविष्य में कभी संयुक्त राष्ट्र संघ या उसका उत्तराधिकारी संगठन ऐसे अंतर्राष्ट्रीय दस्ते बनाने का फैसला करें। यह न केवल मशीनी ढंगों में बल्कि मानव आत्मा की कई शाखाओं में आपसी प्रकिया और समीप्य की कोशिश होगी। मशीनी ढंग अध्यात्मिकता या मनुष्य के कल्याण के दो आधार हैं और अधिकतम कौशल से भिन्न पूर्ण मौशल पर आधारित सभ्यता दोनों की जरूरतों पर ध्यान देगी। बहुत मुमकिन है, कि एशिया के सन्तुलन से जो पतित हो घर आलस बन गया है, युरोपीय लोग काफी सीख सकते हैं जिनकी क्रियाशीलता युद्ध में पतित हो रही है। एशिया के आलस के पीछे सन्तुलन है और युरोप के युद्ध के पीछे क्रियाशीलता है और अगर विभिन्न संस्कृतियों के लोग काम और प्यार में मिलें तो बहुत मुमकिन है कि यूरोप-अमेरिका के लोग युद्ध छोड़ दें और एशिया के लोग आलस। विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के रूप में विभिन्न चरित्रों और स्वभावों का मिलना जो जानबूझ कर शांतिपूर्ण घर्षण में हो, युद्ध और शासन में नहीं, शिक्षा का, व्यक्ति के परिवर्तन का और व्यक्तित्व की सफाई का महत्वपूर्ण साधन बन सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के मौजूदा ढांचे और उसकी भावना की पृष्ठभूमि में मानव जाति के समीप्य के ये रूझान अभी अधिक महत्व के नहीं। दुनिया में एक ओर अमेरिका और रूस हैं जहां क्रमश ग्यारह करोड़ और साढ़े तीन करोड़ टन सालाना इस्पात की पैदावार और अमेरिका में प्रति व्यक्ति दो सौ अंडे और दो सौ सेर दूध से अधिक की खपत है और दूसरी ओर हिन्दुस्तान है जहां इस्पात की सालाना पैदावार १२ लाख टन है और तीन सेर व तीन अंडे प्रति व्यक्ति का खपत है। दुनियां के रंगीन चमड़ी वाले सभी लोगों की हालत करीब करीब हिन्दुस्तान जैसी ही है। संयुक्त राष्ट्रों के घोषणा-पत्र प में भी यही हालत है जिसमें दुनियां को छोटे और बड़े राष्ट्रों में चार ब्राह्मणों और ५६ से अधिक शुद्र राष्ट्रों में बांटा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय वर्ण व्यवस्था को कानूनी रूप दे दिया गया है। मनुष्य का दिमाग सचमुच बड़ा पेचीदा यन्त्र है कि अन्दरूनी वर्ण व्यवस्था के खिलाफ न्याय के लिए अपनी सारी शक्ति लगाकर भी अन्तर्राष्ट्रीय वर्ण व्यवस्था के अन्याय को बिलकुल देख और समझ ही न पाये मनुष्य के दिमाग में एक ओर प्रकाश और दूसरी ओर अंधेरे की यह विशेषता ही इतिहास के चक्र की चालक और दुखद निराशा का कारण रही है। मौजूदा संबन्धों का ढांचा उस भावना में प्रकट होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के पीछे रहती है। आमतौर पर सारी दुनियाँ के ऐसे राजनीतिज्ञ जो राष्ट्रीय दृष्टि से अच्छे हैं, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दुष्ट हैं और जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अच्छे हैं वे राष्ट्रीय में अयोग्य हैं। यह केवल संकुचित राष्ट्रीयता की पराकाष्ठाओं में सच नहीं हैं बल्कि उसके पहिले पाप की तरह सारी मौजूदा राजनीति में यह गुण है। राष्ट्रीय राजनीति का आधार, अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरात्मा के विकास के विरुद्ध है। राष्ट्रीय आजादी और रोटी का पोषण आधुनिक मनुष्य में इस तरह हुआ है कि वह सारी दुनियाँ की आबादी और रोटी के विरुद्ध है। आधुनिक सभ्यता अपने इस पहिले पाप पर काबू पाकर यमलवता का साम।ृहासिल कर सकेगी या नहीं, इसका आंशिक उत्तर

शायद उसकी चालक शक्तियों और उद्देश्यों का अध्ययन करके दिया जा सके।

आधुनिक सभ्यता का अर्थ

एक बार मैंने अमेरिका के एक दार्शनिक स्टाक बुकानन से पूछा कि आधुनिक सभ्यता का अर्थ क्या है। उस समय पेरिस की ऊंची और सुन्दर इमारतें मेरे सामने खड़ी थीं और पेरिस को स्वस्थ और सुन्दर स्त्री पुरुषों के चलने फिरने का आकर्षक दृश्य मेरे सामने था। अपने देश में और एशिया और अफ्रीका की आज हालत सोचता हुआ मैं कुछ उदास था। सवाल में आत्म चिन्तन अधिक था। आधुनिक सभ्यता का भेद क्या है? उसका रहस्य किसमें है? किस चीज ने युरोप और उसके अमेरिकन उत्तराधिकारी को इस योग्य बनाया कि वह यह सब निर्माण कर सके? उस समय हम एक चायखाने में बैठे थे जिसके पास मैग्डेलीन का गिरजा था। ईसा और मैग्डेलीन को कौन नही जानता, मैग्डेलीन जिसे दुनियां वेश्या कहती थी और ईसा के स्पर्श करने के बाद जिसे सन्त मान कर पूजती आई है। यह मैग्डेलीन के आदर और स्मृति में बनाया हुआ गिरजा था जिसकी सुन्दर और महान कथा यह बताती है कि हर आदमी दूसरों के बराबर है और यह कि वेश्या और सन्त बुनियादी तौर पर एक ही हैं। बुकानन ने मेरे सवाल के जवाब में सिर्फ गिरजे की ओर इशारा कर दिया, जो दो हजार वर्ष पूर्व होने वाली मैग्डेलीन की कहानी कहता है लेकिन जहां अट्ठारह सौ वर्ष बाद पेरिस की सबसे सुन्दर लड़की को बुद्धि की देवी की उपाधि दी गई। ये फ्रांसीसी क्रांतिकारी अनीश्वरवादी थे। उन्होंने पादरियों और गिरजा घरों और ईश्वर सभी को खतम कर दिया था। युरोपीय सभ्यता के दो रहस्य मेरे सामने थे, मनुष्य की प्रतिष्ठा में

अध्यात्मिक विश्वास और विज्ञान में बुद्धिवादी विश्वास, दोनों इस हद तक कि एक दूसरे को काट देते हैं। आधुनिक युरोप की आत्मा ने इन दो रहस्यों को प्रकट करने की कोशिश की है और जहां अब तक दोनों की आपसी प्रक्रिया से उसे सहायता मिलती रही है, उनका मौलिक विभेद हमेशा कायम रहा और अब स्पष्ट सामने है। प्रतिष्ठा और विज्ञान की इस द्वैतवादी कोशिश और उससे उत्पन्न होने वाले तनाव और शक्तियों के विचार में बहुत कुछ तथ्य हो सकता है। इन शक्तियों ने ठोस सफलतायें प्राप्त की और शुरू में ही अपने आप बरबाद नहीं हुई उसका कारण यह हो सकता है कि युरोप ने विज्ञान की एक अपेक्षतया अद्वैतावादी भक्ति के सामने सिर झुकाया, साधारण विज्ञान के नहीं, बल्कि विज्ञान के उस विशिष्ट रूप के जो उसने अपने इतिहास के क्रम में विकसित किया। विज्ञान, विशेषतः अपने व्यवहारिक रूपों में विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों से अनिवार्य ही सम्बन्धित होता है और आधुनिक युग के अज्ञान का यह भी एक चिन्ह है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण और उसको ठोस प्रयोगों को अवसर पर्यायवाची माना जाता है। युरोपीय सभ्यता अब शायद अपने इस द्वैतवाद पर और आगे नहीं चल सकती।

किसी सभ्यता की ऐसी व्याख्याओं से उस पर अचानक बड़ा प्रकाश पड़ता है लेकिन फिर अंधेरा हो जाता है और इस कारण ऐसी व्याख्याएं पूरी तरह संतोषजनक नहीं होती। जिन्दगी के भौतिक आरामों के साथ साथ प्रतिष्ठा और समानता की इच्छा सभी सभ्यताओं में समान रूप से होती है; जैसे जीवन के अर्थ की खोज। किसी खास सभ्यता की विशेषताएँ, रोजमर्रा की बातों का अध्ययन करने से मिलती हैं, यद्यपि मैग्डेलीन के गिरजे जैसी कहानियों का विरोधाभास भी एक व्यापक ढंग से विशिष्टता प्रकट करता है। आधुनिक सभ्यता की विशिष्टता एक खास तरह के बुद्धिवाद में, खेती और कारखानों में विज्ञान के खास ढंग के प्रयोग में है। इस सभ्यता में एक क्रांतिकारी मशीनी ढंग रहा है जिसमें मशीनें हर रोज

बदलती हैं और उत्पादन शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। आज भी अमेरिका और रूस जैसे देशों में, जहाँ प्रगति रुकी नहीं है; मशीनी ढंग क्रांतिकारी है। मनुष्य की किसी अन्य सभ्यता में ऐसा नहीं था। मशीनें बमुश्किल कभी बदलती थीं। हिन्दुस्तान के किसान का हल पिछले दो हजार सालों से वही रहा है, लेकिन पिछले तीन सौ सालों में पश्चिमी युरोप का आदमी बराबर अपने औजारों को बदलता और बढ़ाता रहा है। मानव इतिहास के पिछले दो सौ सालों में औजार बराबर बढ़ते और बहुगुणित होते रहे हैं। और उनमें निरन्तर सुधार होता रहा है। यह सभ्यता खेती और कारखानों में विज्ञान के एक खास ढंग के प्रयोग के फलस्वरूप एक क्रांतिकारी मशीनी ढंग की सभ्यता है। इस विज्ञान से बड़े पैमाने पर पैदावार, संख्या और परिमाण में बराबर बढ़ते हुए कारखानों का निर्माण और पूँजी का बराबर बढ़ना हुआ केन्द्रीकरण हुआ है जिसमें हर मजदूर के पीछे लगी हुई पूंजी बराबर बढ़ती जाती है।

ऐसे विज्ञान से चलित होकर यह सभ्यता सामूहिक रूप से बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्पादन और व्यक्तिगत रूप से रहन सहन के बढ़ते हुए स्तर को लक्ष्य करती है। दिल के अन्तरतम में, इस सभ्यता के व्यक्ति को एक अच्छे घर और उसके साथ पत्नी या पति और बच्चों की इच्छा चालित करती और जीवन को सार्थक बनाती है। पिछली सभ्यताओं में परिवार शान्ति और सामाजिक एकता के लिये आखिरी बचाव हो सकता था लेकिन उतना प्रभावशाली और गतिशील नहीं हो सकता था जितना कि आज है। यह आधुनिक मनुष्य को आर्थिक मेहनत के लिये पत्नी और बच्चों के लिये एक अच्छा घर हासिल करने को प्रेरित करता है और इस प्रकार बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्पादन का राष्ट्रीय लक्ष्य और बढ़ते हुए रहन सहन के स्तर का व्यक्तिगत लक्ष्य अन्ततोगत्वा परिवार की इच्छा के साथ बंधे हुए हैं। अन्तिम विश्लेषण में क्रांतिकारी मशीनी ढंग का भावनात्मक आधार घर की इच्छा ही में है। अपने भावनात्मक दृष्टिकोण में रूसी और अमरीकी दोनों का रुख

एक सा ही है। सम्पत्ति की मल्कियत की व्यवस्था दोनों समाजों में चाहे जितनी भी भिन्न हो, अमेरिकन और रूसी दोनों के ही दिलों में आतमदेह घर और रहन सहन के बढ़ते हुए स्तर की इच्छा होती है जिस पर बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्पादन का सारा ढाँचा खड़ा है। किसी भी पिछली मानवी सभ्यता में आधुनिक मनुष्य के इस भावात्मक दृष्टिकोण के समान कोई चीज नही रही और आधुनिक सभ्यता की इस खास बिशेषता में पूंजीवादी अमेरिकन और कम्युनिस्ट रूसी जुडवाँ भाई हैं।

राष्ट्रीय अर्थनीति और व्यक्तिगत भावना के साथ जुड़ी हुई, विश्व शांति और समानता की अस्पष्ट भावना है जो आधुनिक मनुष्य की विशेषता है। ऐसी अस्पष्ट भावनाएं सारे इतिहास में मनुष्य को प्रेरित करती रही हैं लेकिन आधुनिक सभ्यता में उन्होने पहिली बार बुद्धिवादी सा दिखने वाला आधार हासिल किया है। पूंजीवाद और कम्युनिज्म दोनों ने ही उस स्वर्ण युग की कल्पना की हैं और अब भी करते हैं, जब बढ़ते हुए औद्योगिकरण, रहन-सहन के स्तर में सुधार, और बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्पादन से सारी दुनियाँ नजदीकी मित्रताओं में बंध जायगी और युद्ध समाप्त हो जायंगे। पिछली दो सदियों में युरोपीय लोगों के रहन सहन के स्तर में ठोस बृद्धि ने उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि समाज स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक और आर्थिक समानता की ओर बिकसित हो रहा है और धीरे धीरे सारी दुनियाँ में ही ऐसा हो जायगा। यह मान लिया गया है कि बढ़ते हुए मशीनी विकास और सारी दुनियाँ के आर्थिक सामीप्य की ओर आगे बढ़ती हुई आधुनिक सभ्यता, औपनिवेशिक देशों में भी आर्थिक पिछड़ेपन को दूर कर देगी और अपने फायदों को सारी दुनियाँ में फैला देगी। खेती और कारखानों में विज्ञान के एक स्थायी रूप के क्रांतिकारी प्रयोग के साथ पूंजी का बढ़ता हुआ केन्द्रीकरण, सामूहिक रूप से बढ़ता हुआ राष्ट्रीय उत्पादन व्यक्तिगत स्तर और सामाजिक समानता तथा विश्व शांति के लिये बुद्धिवादी प्रतीत होने वाली आकांक्षा आधुनिक सभ्यता की विशेषताएं रही हैं।

लेकिन यह सभ्यता अब अपनी राह के अन्त तक पहुंच गई है। सारी दुनियां में फैलने की अपनी शक्ति उसने खो दी है। शायद पिछली सभ्यताओं की तरह इसमें भी कभी यह शक्ति थी ही नहीं और सार्वभौमिकता के गुण की जो आशा पहिले इससे जगी थी, वह भ्रामक सिद्ध हुई है। युरोप में होने वाली औद्योगिक क्रांति और उसके बाद की बातें एक विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति का अंग थीं जो एशिया और अफ्रीका में दुहराई नहीं जा सकतीं। बहुत थोड़ी जमीन और बहुत अधिक आदमी एशिया की एक विशेषता है और इस कारण बड़े पैमाने की पैदावार के मशीनी ढंग का प्रयोग बिल्कुल असंभव है। हिन्दुस्तान में आबादी का घनत्व ३०० व्यक्ति फी वर्गमील है जब कि रूस का घनत्व अभी २० व्यक्ति फी वर्ग मील नहीं पहुंचा। रूस की तरह रोटी का सवाल हल करने की योग्यता की हवाई बातें तीन सौ के विरुद्ध बीस के इन ठस आंकड़ों की दृष्टि में निरर्थक हैं। राजनीतिक और आर्थिक सिद्धांतों का संबन्ध ठोस ऐतिहासिक स्थितियों से होना चाहिये और इससे दुखद बात और कोई नहीं हो सकती कि पूंजीवाद या कम्युनिज्म या समाजवाद को भी इतिहास और भूगोल से असम्बृद्ध रख कर सोचा जाय। मौजूदा मशीनी ढंग, जो बाकी दुनियां पर युरोप के साम्राज्यवादी नियन्त्रण के कारण सम्भव हुआ, अब जारी नहीं रखा जा सकता। उदाहरण के लिए युरोप में उद्योग-धन्धों के विकास का आधार, बेस्मर विधि, तभी लागू की जा सकी जब स्वेज नहर खुली और स्वेज नहर समृद्धि का साधन तब बनी जब भारत की खेती के एक अंग का व्यवसायीकरण कर दिया गया। यह ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार चला कि पश्चिमी युरोप में हर औद्योगिक और मशीनी विकास के साथ, जिसके फलस्वरूप पूंजी का अधिक केन्द्रीकरण हुआ, साम्राज्यों और उपनिवेशों के संबन्धों में भी तद्नुकूल परिवर्तन हुए। आधुनिक युरोप का मशीनी ढंग, मूल रूप में एक साम्राज्यवादी मशीनी ढंग है और उसे सारी दुनिया में लागू नहीं किया जा सकता, बशर्ते कि अन्य ग्रहों पर बहुत से उपनिवेश न मिल जाँय।

आधुनिक सभ्यता अपनी प्रभुता के क्षेत्रों में भी अपने अन्त पर पहुंच गई हैं। अब युरोप में रहन सहन के बढ़ते हुये स्तर की भूख नहीं मिटाई जा सकती। पिछले चालीस वर्षों या अधिक समय से फ्रांस में स्थिरता रही है। पिछले लगभग बीस वर्षों से इंगलेन्ड में जीवन स्तर के अनुपात में उत्पादन शक्ति बिल्कुल नहीं बढ़ी। इस सभ्यता का राजा और उसकी शान, पश्चिमी युरोप, दौड़ में पीछे रह गया है और आज उसकी स्थिति बहुत कुछ वही है जो पिछली दो सदियों में युरोप के प्रति एशिया की रही है। युरोप के बारे में एशिया जो कुछ सोचता था, आज वही युरोप अमेरिका के बारे में सोचता है। अपने विकास के प्रथम और मुख्य स्थान में आधुनिक सभ्यता अपने मार्ग के अन्त पर आ गई है, इस दृष्टि से कि मशीनी ढंग अब क्रांतिकारी नहीं रहा, उपभोग की वस्तुओं के राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि नहीं होती, और यद्यपि रहन-सहन के स्तर में वृद्धि की आकांक्षा बराबर मौजूद रहती है; लेकिन अब कोशिश सिर्फ इसी की होती है कि मौजूदा स्तरों को अधिक मेहनत करके और कष्ट उठा कर भी कायम रखा जाय। इसके अलावा, आधुनिक सभ्यता के गोरे लोगों में इस हद तक आर्थिक और सामाजिक समानता तो हासिल कर ली गई है कि सभी पिछली सभ्यताओं को उसके आगे झुकना पड़ेगा लेकिन मूल स्रोत अब सूखता मालूम पड़ता है। व्यक्ति की शान के रूप में जो कुछ शुरू हुआ था, वह अब केवल एक अङ्क और एक बिल्ला मात्र रह गया है। युरोप में आज व्यक्ति की यही हालत हो गई है। वह न केवल कैदी होने पर ही एक अंक रह जाता है बल्कि जीवन के सभी अंगों में उसकी वही स्थिति है। व्यक्ति की शान से शुरू होकर, ऐसा मालूम पड़ता है कि सभ्यता पूरा चक्कर चल कर इस जगह आ गई है कि व्यक्ति समूह की मशीन के एक पुर्जे से अधिक कुछ नहीं रह गया। हो सकता है कि आर्थिक और सामाजिक समानता की खोज में आधुनिक सभ्यता अध्यात्मिक सम्भावना का विचार रखना भूल गई। अब यह अपने ही बोझ से टूट रही है, उसी तरह जैसे पिछली मानवी सभ्यतायें, जिन्होंने अध्यात्मिक

समानता की अपूर्व ऊंचाइयाँ हासिल की, टूट गईं क्योंकि वे सामाजिक और आर्थिक विषमता के बुरी से बुरी खराबियों में गिर गईं। अगर पिछली सभ्यतायें अध्यात्मिक समानता और सामाजिक विषमता के अममेल के बोझ से टूटीं तो आधुनिक सभ्यता सामाजिक समानता और अध्यात्मिक विषमता के अनमेल के बोझ से टूट रही है। क्योंकि क्रांतिकारी मशीनी ढंग के अत्यधिक विकास से आधुनिक मनुष्य उसे मानसिक स्थिति में पहुंच गया है जब वह अन्य मनुष्यों के साथ प्रत्यक्ष और नजदीकी अपनापन नहीं महसूस कर पाता।

आधुनिक सभ्यता का रुझान शुरू में चाहे जो भी रहा हो, अब वह एक ऐसी उलझी हुई व्यवस्था बन गई है जिसमें दूरस्थ फल का उत्पादन, दूरस्थ उत्पादन के औजार दूरस्थ, अप्रत्यक्ष व्यवहार का लोकतन्त्र और यहाँ तक कि दूरस्थ औचित्य का वर्ग संघर्ष होता है। आधुनिक सभ्यता में रोक और नियन्त्रण तत्कालिक नहीं बल्कि दूरस्थ होते हैं। चाहे कारखाने की पैदावार हो, वर्ग संघर्ष हो या लोकतन्त्र, यह बात कसौटी पर पूरी तरह परखी जा सकती है। वर्ग संघर्ष को इस तरह विकृत कर दिया गया है कि गलती का परिणाम सचाई, हत्या का स्वस्थ्य, लोकतन्त्र की मृत्यु का लोकतन्त्र की पूर्णता और राष्ट्रीय स्वतन्त्र के बलिदान का विश्व एकता आदि सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी हालत में आदमी तात्कालिक परख की कसौटी को छोड़ देता है और सिर्फ आने वाले स्वर्ण युग की सोचता है। उस स्वर्ण युग की सेवा में आदमी सभी तात्कालिक औचित्यों का बलिदान करने को तैयार हो जाता है और दूरस्थ कसौटी का सेवक बन जाता है। लक्ष्य प्राप्ति की नेकनीयत लेकिन झूठी आशा में बुराई के साथ एक बड़ा जुआ खेला जाता है। नयी सभ्यता दूरस्थ कसौटियों के विश्वास को खतम कर देगी और सभी कुछ में साक्षात्कार का सिद्धान्त लागू होगा।

शायद दूरस्थ कसौटियों पर अपने अटल विश्वास के कारण ही आधुनिक दुनिया के भयावह अचार की द्विविधाओं और विरोधों को जन्म दिया

है, जैसे प्रकृति और पुरुष, व्यक्ति और समाज, रोटी और संस्कृति आदि आदि। ऐसे हर जोड़े में जो विरोध मान लिया गया है, वह बनावटी और अयथार्थ है। जहां तक प्रकृति और पुरुष का सवाल है, मुझे उनमें कोई विरोध नहीं नजर आता सिवाय इसके कि आमतौर पर मुझे भौतिकवादियों के बीच परेशानी होती है और मैं अध्यात्मवादी बन जाना चाहता हूं और अध्यात्मवादियों के बीच भी उतना ही परेशान होता हूं और भौतिक-वादियों की तरह सोचने लगता हूं। ये द्विविधायें आधुनिक दिमाग का एक बड़ा रोड़ा हैं जिसने विचार के क्षेत्र में कुछ दैत्य पैदा कर दिये हैं जिनका संहार करने में वह असमर्थ है। ये द्विविधाएँ इस कारण उत्पन्न हुई हैं कि साक्षात्कार की उपेक्षा की जाती है, इतिहास कथाओं के विरुद्ध है और कथाएँ इतिहास के।

हिन्दुस्तान में ऐसा कौन है जो अशोक या बुद्ध या अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों की अपेक्षा राम और शिव की कथा ज्यादा अच्छी तरह नहीं जानता। राम शायद एक काल्पनिक व्यक्ति थे और शिव निश्चय ही कल्पना की उपज हैं। फिर भी हिन्दुस्तान के लोगों के दिमाग पर उनका कितना बड़ा असर है। उनके असर की तुलना में ऐतिहासिक व्यक्तियों की कोई गिनती ही नहीं। दूसरे देशों में भी कथाएँ और पौराणिक गाथाएँ हैं। युरोपियनों के लिये अपोलो और डायनोसियस या कोई स्थानीय ब्रुनहिल्दे हैं। कभी कभी एतिहासिक व्यक्ति कल्पना की अग्नि में पड़कर पौराणिक बन जाते हैं। ऐसे एक व्यक्ति अरब के हुसेन हैं, जिनके प्रति शिया लोगों में ईश्वर से अधिक प्यार और बलिदान की भावना होती है। ईश्वर की निन्दा शिया सुन लेगा, लेकिन उसके सामने हुसेन की निन्दा करने की गलती कभी न करनी चाहिये। सारी दुनिया में ही इन्सान के दिमाग ने कथाओं और पौराणिक गाथाओं का सृजन किया है। मुझमें स्वयं शिव की कथा के प्रति सब से ज्यादा आकर्षण है शायद इस कारण कि इन्सान का दिमाग इसी ५८३ ऐसे व्यक्ति को जानता है जो किन्हीं सीमाओं में बँधा हुआ नहीं है, ताकि

उसके हर कार्य का अन्तिम स्वयंउसमें ही है, या पार्वती के साथ उनके सम्बन्धों के असंख्य रूपों और रंगों के कारण। स्त्री और पुरुष के बीच प्रेम की इससे अधिक आकर्षक और दिलचस्प कथा मैं नहीं जानता। या शायद और प्रेम देवी और देवता के बीच था, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। स्त्री और देवी में अधिक अन्तर नहीं होता, और अगर किसी को कोई सन्देह हो तो वह काहिरा का अजायबघर जा कर देख सकता है, जो बहुत प्राचीन लेकिन उत्तेजित कर देने वाली वस्तुओं और स्मृतियों का अद्वितीय भंडार है। ४००० वर्ष पहिले मरने वाले तुतखमान की समाधि पर जिसका शरीर अब भी ताबूत में बन्द है, शोक के कारण विचार पूर्ण मुद्रा में लेकिन एक पैर थोड़ा सा उठाये, अपने गोल अंगों में अनुपम सौन्दर्य भरे देवी आइसिस की छोटी से मूर्ति देखकर खून में एक पागलपन दौड़ जाता है जिसकी कोमल उष्णता हमेशा बनी रहती है। कोई मनुष्य नहीं जिसके मन में उसे देखकर वह भावना न पैदा हो जिसे, 'मनुष्य प्यार कहते हैं और देवता व्यभिचार।' इन कथाओं और पौराणिक गाथाओं में क्या आकर्षण है कि दिमाग में इन का स्थान इतिहास से भी अधिक है। ये किसी अनश्वर वस्तु की बात कहती है जिसका रूप शकल बदल सकती है लेकिन जो सार रूप में हमेशा वही रहेगी। विचारों में वे सारी सृष्टि के साथ प्यार और सहानुभूति और हमदर्दी और एकता प्राप्त कर लेती हैं।

हर क्षण गति भी है और स्थायी भी। मनुष्यों ने अब तक क्षण के इन दो रूपों को न पहिचानने की गलती की है। इतिहास के सभी दार्शनिकों ने जो आने वाले स्वर्ण युग के बारे में सोचते रहे हैं, क्षण को केवल गति रूप में देखा है और उसके स्थायी स्वरूप को भूल गये हैं। सभी नीतिज्ञों ने जो व्यक्ति के चरित्र और उच्च आदर्शों के उपदेश देने की कोशिश करते रहे हैं, क्षण को स्थायी रूप में ही देखा है और उसकी गति की ओर ध्यान देना भूल गये। लेकिन क्षण गति भी है और स्थायी भी। गति रूप में वह इतिहास के क्षेत्र में है जहां चालक शक्तियों को खोजकर उन्हें रोका या

बढ़ाया जा सकता है। स्थायी रूप में उसका क्षेत्र कथाएँ और पुराण, साहित्य और कला, धर्म और दर्शन हैं। इतिहास की कोई भी व्याख्या जो केवल यथार्थ घटनाओं का ही ध्यान रखती है, एकतरफा होगी। अगर इतिहास जीवन का महान गद्य है तो कथाएं और पौराणिक कथाएं उसकी काव्य हैं और कथा का सम्बन्ध पुराण वही है जो गति का महाकाव्य से। जीवन के महान गद्य से बहुत कुछ सीखना है और उसके वर्णन में अनुक्रम भी हो सकता है। लेकिन इस क्रम का कोई मूल्य नहीं, अगर उसे एक ऐसे तत्व से चमकाया नहीं जाता जो इतिहास के क्षेत्र से बाहर है। इतिहास को युगों में बाँटने का दृष्टिकोण अब भी सही साबित हो सकता है न सिर्फ उस गद्य से, जिससे वह बना है बल्कि उस दुखद स्थिरता से भी जिसने चक्र सिद्धांत को जन्म दिया। मनुष्य के भाग्य को न सिर्फ इतिहास के पृष्ठों में पढ़ना होगा, बल्कि हर क्षण के अनश्वर अमरत्व में भी जो इतने शानदार ढंग से ऐसी कहानियों में अंकित है, जो कभी होती नहीं, फिर भी हमेशा के लिये सच है। अगर मनुष्य को इतिहास में रहना सीखना है तो उसे इतिहास के बाहर रहने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

अगर मनुष्य के लिये यह संभव हो कि वह अपने जीवन में क्षण के इन दो पहलुओं को मिला सके और एक नयी सभ्यता प्राप्त कर सके, तो वह सचमुच एक स्वर्ण युग के योग्य हो सकता लेकिन यह स्वर्ण युग बिल्कुल भविष्य का ही नहीं होगा मानवी विकास में भविष्य के स्वर्ण युग का विचार वैसे ही है जैसे कोई लालची मनुष्य जो वर्त्तमान में इस आशा से कष्ट उठाता है कि सुदूर भविष्य में कभी अमीर हो जायगा। यह विचार क्षण के स्थायी रूप से बिल्कुल इन्कार करता है और उसके साथ साथ ही व्यक्ति के महत्व से भी जबकि वह कला और साहित्य, कथा और पुराण, धर्म और दर्शन के द्वारा स्थापित हो चुका है। क्योंकि, व्यक्ति चाहे वह किसी भी देश या युग का हो, सौन्दर्य और विश्वास और प्रेम के आदर्श और आकांक्षाएं व्यक्त करना चाहेगा और सहानुभूति और

हमदर्दी और एकात्मकता की ओर बढ़ना चाहेगा। मानव जीवन के ये प्रतिमान इतिहास के क्षेत्र के बाहर हैं और कोई मूर्ख ही इन्हें उसमें जबरदस्ती शामिल करने की कोशिश करेगा।

हम सचमुच एक स्वर्ण युग को पा सकते हैं और हम तत्काल ही उसे पाने की कोशिश करें। जिस हद तक हम उसे तत्काल पाते हैं और साक्षात्कार के सिद्धान्त को व्यवहार में लाते हैं उस हद तक क्षण के प्रति और स्थायी रूपों के बीच में कड़ी भी जोड़ी जा सकती है। अगर इन दोनों को अलग अलग श्रेणियों में रखा गया, एक प्रकृति के क्षेत्र में और दूसरा पुरुष के, तो हमारे ऊपर बहुत बड़ा दुर्भाग्य और विनाश आ सकता हैं। इन्हें एक दूसरे में जोड़ना पड़ेगा और साक्षात्कार का सिद्धान्त दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है। वर्ग संघर्ष में साक्षात्कार' उत्पादन में साक्षात्कार; विश्व पार्लिमेन्ट में साक्षात्कार और सामीप्य में साक्षात्कार। साक्षात्कार के इस सिद्धान्त के अनुसार हर काम का औचित्य स्वयं उससे ही होता है और यहां और अभी जो काम किया जाता है उसका औचित्य सिद्ध करने के लिये बाद के किसी काम का हवाला देने की जरूरत नहीं। हर काम का औचित्य स्वयं उसमें ही होना चाहिये लेकिन इतिहास की चालक शक्तियों को समझने की और उनमें जो सहायक हों उन्हें मनुष्य के भाग्य के हित में बढ़ाने की भी उतनी ही जरूरत है। सहानुभूति और क्रान्ति को एक दूसरे से जोड़ना होगा और एक के बजाय दूसरे का पक्ष लेने से अध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों में ही बरबादी होगी।

जो सुदूर भविष्य के स्वर्ण युग में विश्वास करते हैं, वे अवसर एक अजीब भ्रम के शिकार होते हैं और इस कारण उच्चआदर्शों के लिये नीच काम करते और सोचते हैं कि इन नीच कर्मों का औचित्य सुदूर भविष्य के परिणाम में है। ऐसा स्वर्ण युग कभी नहीं आयेगा। लेकिन अगर हम अपने कामों में साक्षात्कार का सिद्धान्त लागू करें; चाहे पैदावार के बारे में हो या वर्ग संघर्ष के बारे में, चाहे वर्ग विहीन और वर्ण विहीन समाज की

स्थापना के बारे में, चाहे ऐसी मानवता के बारे में जिसमें शक्ति और समृद्धि के क्षेत्रीय बदलाव न हो तो क्षण के गति और स्थायी रूपों को मिलाना संभव हो सकता है। यहां और अभी स्वर्ण युग प्राप्त करने की कोशिश कर के शायद हम अगली पीढ़ी के लिये एक ऐसी हालत मुमकिन बना सकें जिसमें युद्ध और गरीबी और भय न हों।

पूर्ण कौशल

कोई पिछली सभ्यता ऐसा नहीं कर सकी कि अपना रास्ता बदल ले और अपनी प्रारम्भिक दिशा में अधिकतम कौशल को छोड़कर ही दिशा में पूर्ण कौशल प्राप्त करे। पूर्ण कौशल प्राप्त करने के लिये किसी सभ्यता को पूर्ण व्यक्ति और सारी मानवता के लिये लागू होने के योग्य बनाना होगा। इन दोनों ही बातों में पिछली सभ्यताएं विकसित होने में असमर्थ रहीं। उनमें से हर एक ने अपने ही लोगों के लिये अधिकतम कौशल प्राप्त करने की चेष्टा की ताकि वह सभ्यता और उसके वाहक बाहिरी दुनिया से टक्कर लेकर उस पर हावी हो सकें। इस कौशल के रूप और किस्मा हमेशा अलग अलग रहे लेकिन उस सभ्यता के विशिष्ट लोगों और बाहरी दुनिया के बीच की सीमायें कभी तोड़ी न जा सकीं और इस कारण शक्ति और समृद्धि के क्षेत्रीय बदलावों के बजाय अपेक्षतया समान सुविधाओं का एक विश्व न बनाया जा सका? इसी प्रकार हर मानवी सभ्यता में व्यक्ति के विकाश की सम्भावनायें उसी हद तक रहीं जिस हद तक समूह विशेष के अधिकतम कौशल के लिये आवश्यक थी। ऐसी प्रतिमा, समझ का, जो किसी खास सभ्यता को कौशल के लिये अनावश्यक थी, आमतौर पर कोई इस्तेमाल नही हुआ। अतः व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कभी नहीं हुआ। व्यक्तित्व के एक या दूसरे अंग का अधिकतम विकास हुआ है लेकिन पूर्ण

व्यक्ति नहीं छुआ गया। मौजूदा सभ्यता और उसके भविष्य को पूर्ण कौशल की इन कसौटियों पर कसना होगा।

मौजूदा सभ्यता की सब से बड़ी विशेषता पूंजी-निर्माण है। अगर सारी मनुष्य जाति को इस सभ्यता के वाहकों के समान ही बनाना हो तो जितनी पूंजी की जरूरत होगी, वह आर्थिक संभावनाओं की दृष्टि से बहुत ही ज्यादा होगी। अगर मानवता को अमेरिका की तरह बनाना हो तो पन्द्रह हजार खरब रुपये की पूंजी की जरूरत होगी और पश्चिमी युरोप के समान बनाने के लिये भी कम से कम उसकी आधी रकम की जरूरत होगी। पिछड़े हुए लोगों के लिये अपने आप ऐसी कोशिश कर पाना मुमकिन ही नहीं है। जो प्रभु राष्ट्र हैं वे अगर एक सदी या ऐसी अवधि में इतना धन निकाल भी सकें, तो ऐसी कोशिश करने के लिये अपने को राजी नहीं कर सकते। इसके अलावा मौजूदा मशीनी ढंग के गुणों में एक बहुत बड़ी कठिनाई है जिसके कारण वह सारी दुनियाँ में फैलने में असमर्थ है। अगर हम मान भी लें कि प्रभु राष्ट्र पिछड़े हुए देशों की पैदावार को अपने ही स्तर पर लाने के लिये अपने रहन सहन में कमी लाने को तैयार हो जायगे, तो भी उसमें समय का एक स्थायी अन्तर होगा। यह अन्तर तभी मिटाया जा सकता है जब हम मान लें कि प्रभु देशों का मशीनी ढंग क्रान्तिकारी नहीं रह जायगा, उतनी देर के लिये उसमें कोई विकास नहीं होगा। ऐसा होने पर इतिहास की वह चालक शक्ति काम करने लगेगी जिसके फलस्वरूप क्षेत्रीय बदलाव होते हैं।

अपनी सभ्यता के विशेषाधिकारों की रक्षा के लिये अणुबम और हाइड्रोजन बम बनाना आसान है बनिस्बत उन अधिकारों को पिछड़ी हुई दुनिया के साथ बाँटने के। इन बमों के अभावह आतंक को इतिहास की पृष्ठभूमि में देखना होगा। वे आधुनिक सभ्यता के दांत और नाखून और उसका दुःसह बोझ हैं। इनके द्वारा इनका मालिक एक प्रकार का डिनोसार बन जाता है जो अपने ही बोझ से नष्ट हो गया। लेकिन इन बमों की शक्ति युद्ध के

हथियारों के विशिष्ट कौशल का चरम रूप ही है जिसका इस्तेमाल युरोपीय सभ्यता ने और सभी लोगों को हराने के लिये किया और जिसे वह अब भी विकसित करती जा रही है। अतः ये बम कहानियों के उन साँपों की तरह हैं जो गड़े हुए खजाने की रक्षा करते हैं। ये साँप इतने बढ़ गये हैं; या इनका जहर इतना बढ़ गया है कि खजाने के मालिकों को ही खतरा पैदा हो गया है, यह उस खेल का ही एक हिस्सा है। अणु बम या हाइड्रोजन बम रखना; उनके मालिकों के लिये अधिकाधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करेगा। उन्हें बनाने का खर्च, उनके इस्तेमाल का हमेशा बना रहने वाला खतरा और आखिरकार युद्ध में उनके इस्तेमाल से अवश्य ही मौजूदा सभ्यता में पतन और नाश की बुराईयां पैदा हो जांयगी।

यह सवाल पूछा जा सकता है कि विकास की भी सीढ़ी पर क्या कोई अन्य सभ्यता ऐसी है जिसके बारे में यह उम्मीद हो कि वह किसी अन्य प्रकार का कौशल, खास तौर से युद्ध के हथियारों के बारे में विकसित कर लेगी? अभी ऐसी कोई सभ्यता नहीं है। वे लोग भी जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अहिंसा का हथियार इस्तेमाल करने की बात करते हैं, वे भी विकेन्द्रित सुरक्षा की समस्याओं के प्रति जागरूक नहीं हैं और युरोपीय सभ्यता के किसी भी पुराने हथियार को इकट्ठा करने में सबसे ज्यादा लालची हैं। अतः अभी किसी बनती हुई सभ्यता की ओर संकेत करना मुमकिन नहीं है जो मौजूदा सभ्यता का मुकाबला करके उसे जीत सके। लेकिन शायद, जब डिनोसार नष्ट हो रहा था तो उसके आस पास उससे अधिक शक्तिशाली पशु नहीं दिखाई पड़ रहे थे। अतः जरूरी सवाल यह नहीं है कि मौजूदा सभ्यता पर हावी हो सकने वाले कोई प्रतिस्पर्द्धी है या नहीं बल्कि यह कि वह स्वेच्छा से अपने अधिकतम कौशल को पूर्ण कौशल में बदल सकती है या नहीं। अगर वह इतनी स्वस्थ और समझदार नहीं साबित होती कि पूर्ण कौशल को अपना सके तो कोई न कोई प्रतिस्पर्द्धी उस पर हावी हो जायगा, यह निश्चित है।

यह मालूम करने के लिए कि पूर्ण कौशल की भावना और मशीनी ढंग हासिल करना युरोपीय सभ्यता के लिये मुमकिन है या नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्तों के बारे में उसके वैचारिक विकास की कहानी से कुछ मदद मिल सकती है। एक समय था जब यह सभ्यता भौगोलिक श्रम विभाजन की बात सोचती थी। जिस प्रकार आधुनिक मशीनों वाले बड़े कारखानों में प्रयुक्त श्रम विभाजन से राष्ट्र को लाभ होता है' उसी प्रकार सिद्धान्त में यह समझा जाता था कि अन्तर्राष्टीय श्रम विभाजन से सारी मनुष्य जाति को लाभ होगा। युरोपीय सभ्यता तब विकास की अवस्था में थी। दिमाग बड़ा आशा पूर्ण था। अतः उसके सिद्धान्त भी आशापूर्ण थे। कुछ खास लोगों के अधिकतम कौशल को जिसकी दिशा में युरोपीय सभ्यता चल रही थी, सारी मनुष्य जाति का पूर्ण कौशल समझने का भ्रम उसे था। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का और कोई अर्थ नहीं है। जब युरोपीय सभ्यता कम और ज्यादा समृद्धि के समाजों से बंटने लगी और पश्चिमी युरोप के कुछ समाजों में बेकारी एक पुराना रोग बन गई, तो दिमाग को एक और कोशिश करनी पड़ी। इस बार फिर उसने पूर्ण कौशल की बात नहीं सोची बल्कि अधिकतम कौशल के विचारों से ही भ्रमित होती रही। बेशक, आधुनिक सभ्यता हमेशा ऐसे हवाई सिद्धांन्तों की बात करती रही है जो सारी दुनिया पर लागू हों, चाहे वास्तव में उनके पीछे कुछ खास लोगों के विकास की स्वर्ण पूर्ण इच्छा ही छिपी हो। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों को संशोधित करके सब को काम देने की बात भी उसमें शामिल कर ली गई।

यद्यपि इस पर सार्वभौमिक शब्दों का आवरण है, लेकिन यह सिद्धांत बुनियादी तौर पर पश्चिम युरोपीय है। आधुनिक ढंग के काम की पृष्ठभूमि में ही इसका कोई अर्थ है। ऐसे इलाकों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कोई लाभ नहीं होगा जहां लोग आधुनिक ढंग से काम नहीं करते और इस कारण जो आधुनिक ढंग से काम करने वालों के बराबर धुन नहीं पैदा कर सकते।

केवल ब्रिटेन या अमेरिका जैसे देशों के बीच जहाँ अपेक्षतया आधुनिक ढंग से काम होता है, उनके स्थायी या व्यापक बेकारी का शिकार होने पर सब को काम और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन पर आधारित विश्व व्यापार का सिद्धान्त लाभदायक रूप में प्रयुक्त हो सकता है। उन आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों में सबको काम मिलने का भी क्या लाभ हो सकता है जिनमें दस या पन्द्रह घंटों की कड़ी मेहनत से उतनी ही पैदावार होती है जिसके बदले में विकसित देशों में एक घंटे की मेहनत से बनी हुई चीज मिलती है। अत; सारी दुनियां पर लागू हो सकने वाला विश्व व्यापार का सिद्धान्त बनाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन, सबकी काम, और पैदाबार से मशीनों का इस्तेमाल, तीनों विचारों को शामिल करना होगा। न केवल सबको काम देने की ही जरूरत है, बल्कि ऐसा काम देने की जिसमें दुनियां के सभी इलाकों के करीब करीब बराबर धन पैदा हो। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि अर्थशास्त्र पर लगभग दो सौ वर्ष विचार करने के बाद भी मौजूदा सभ्यता सबको काम देने का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं निकाल सकी जिससे अपेक्षतया बराबर की पैदावार हो। ऐसा सिद्धान्त बहुत बड़ी क्रांति उपस्थित कर देगा। इससे राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर रहन-सहन के बढ़ते हुए स्तर मौजूदा मशीनी ढंग की वैज्ञानिकता और राष्ट्रीय राज्य आदि के सभी विचार खतम हो जांयगे। लेकिन अपने साथ सचाई बरतने के लिए हमें इस सिद्धान्त पर आना होगा और ऐसा करते हुए एक ऐसी भावना और मशीनी ढंग को जन्म देना होगा जिसका आधार सारी मनुष्य जाति के लिये अच्छे रहन-सहन हो। वस्तुतः पिछड़े हुये देशों में, चाहे कितने भी अनगढ़ रूप में यह सिद्धान्त निरूपित हो चुका है और यह युरोपीय सभ्यता के वाहकों का काम है कि वे उसे माने या न माने। दिमाग से इन सिद्धान्त को मानने से भी अधिक महत्वपूर्ण उसे अमल में लाने की इच्छा और कोशिश का प्रमाण होग। अभी ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन जिन्दगी को अतिक-तम कौशल से पूर्ण कौशल की ओर बदलने की इच्छा बढ़ती मालूम होती है।

जिस प्रकार मौजूदा सभ्यता अपने लाभ सारी मनुष्य जाति को नहीं पहुंचा सकती उसी प्रकार वह मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व को भी नहीं जगा सकती। उसकी वही शक्तियाँ व्यक्त होती हैं जो चाहे कितने भी अप्रत्यक्ष रूप में, राष्ट्र की पैदवार बढ़ाने से सम्बन्धित हों। कोई सन्यासी अब भी मनन कर सकता है लेकिन मेधावी या साधारण व्यक्ति के पास मनन करने के लिये न समय है न रुचि। मौजूदा सभ्यता में व्यक्ति इस हालत में पहुंच गया है जब वह न तो महान हो सकता है, न शांतिपूर्ण आराम ही पा सकता है। दिमाग अपनी यात्रा के अन्त पर पहुंच गया मालूम होता है। यह स्थायी लेकिन निष्फल बेचैनी की भी हालत है। मौजूदा सभ्यता की सांस्कृतिक कसौटियों में विलक्षण भ्रष्टता आ रही है। किताबें लिखना बढ़ईगीरी की तरह एक कारीगरी हो गया है और उन्हें पढ़ना वैसा ही जैसे तकलीफ और ऊब से छुटकारा पाने के लिये किसी आरामदेह बिस्तर का इस्तेमाल आधुनिक मनुष्य गतिशील है, लेकिन उसके अन्दर की शक्ति खतम हो गई है। रोजमर्रा के ऐसे आराम के लिये, जिसमें खुशी न हो, कड़ी मेहनत करना, उसकी विडम्बना है।

समझने में कोई गलती न हो, इसलिये आधुनिक मनुष्य में जो कुछ है उसे मानना पड़ेगा, इस अर्थ में कि आधुनिक मनुष्य शारीरिक और नैतिक स्वास्थ्य में मौजूदा अन्य सभी प्रकार के मनुष्यों से अच्छा है। आधुनिक मनुष्य के खास प्रतिनिधियों के रूप में गोरी जातियाँ दुनियाँ के ओलम्पिक खेलों में प्रथम एक दर्जन स्थान आसानी से प्राप्त कर लेती है। नीग्रो भी ऊपर उठ रहा है लेकिन उसकी शारीरिक योग्यता, गोरी जातियों की तुलना में और कुछ खास क्षेत्रों को छोड़कर सत्य की अपेक्षा संभावना ही अधिक है। पिछले युद्ध की हार और बरबादी से उठ कर फिर आगे बढ़ने में कुछ गोरी जातियों ने जो लचीलापन दिखाया है वह उनके नैतिक स्वास्थ्य का काफी प्रमाण है। आधुनिक व्यक्ति के शारीरिक और नैतिक उत्थान में रहन-सहन का कितना हाथ हो सकता है, यह युद्ध के बाद के जर्मनी को

इतिहास से आसानी से पता लग जाता है। नये हैंडबैग या नये जूते मिल जाने, या, मिलने की संभावना होने से ही बहुतेरी जर्मन स्त्रियों में शारीरिक स्वच्छता और नैतिक सदाचार आ गया।

फिर भी आधुनिक मनुष्य न सुखी है, न वह नये रास्ते ही निकाल सकता है। वह अब भी कड़ी मेहनत करता है लेकिन अपने आप को बिना किसी फर्क के दुहराते जाने की इस कभी खतम न होने वाली ऊब को वह कब तक सह सकेगी। अन्त में वह अपने तनावों के बोझ से टूट जायगा। वह सुखी होना नहीं सीख सकता क्योंकि उसके मन में शांति नहीं है। वह नहीं जानता कि जिन्दगी के नये क्षेत्र कैसे खोजे। आधुनिक सभ्यता के आधार सुख और सन्तुलित क्रिया के विरूद्ध हैं और उन पर इतना कुछ बनाया जा चुका है कि अब आगे निर्माण की गुंजाइश बहुत कम है। अपने पूर्ण व्यक्तित्व को व्यक्त करने की खुशी मनुष्य तभी महसूस कर सकेगा जब वह बाहरी क्रियाशीलता और अन्दरूनी सन्तुलन की संस्कृति बना लेगा। पुरानी किस्मों की सभ्यता में वापस जाने से मनुष्य को सन्तुलन उसी तरह नहीं मिलेगा जैसे मौजूदा सभ्यता के चलते रहने से क्रियाशीलता कायम नहीं रहेगी और दोनों को टुकड़ों में जोड़ने की कोशिश से मुमकिन है कि सन्तुलन की निष्क्रियता और क्रियाशीलता के झगड़े ही उसके हिस्से में आयें। यह हमारे समय की खेदजनक विशेषता है कि पुनरूत्थान, यथास्थिति या अविचार पूर्ण जोड़ की इच्छाएँ ही आधुनिक मनुष्य में उठती हैं। नये गठनों का जन्म शायद उस समय तक नहीं होता जब तक कि मनुष्य मरीचिका के पीछे भागना बन्द नहीं करता।

युरोपीय सभ्यता का अटलांटिक और सोवियट खेमों में बँटना, अधिकतम कौशल से पूर्ण कौशल में बदलाव की सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस बंटवारे की भाषा सार्वभौमिक है और दोनों पक्ष पूंजीवाद और कम्युनिज्म जैसे सारी दुनियाँ पर लागू होने वाले सिद्धान्तों की बात करते हैं। ऐसा प्रकट होता है जैसे मानव जाति के भविष्य का फैसला

होना हो और झगड़ा सामाजिक और विश्व व्यवस्था के सिद्धान्तों के बारे में हो। लेकिन इन सिद्धान्तों में से किसी ने भी सारी मनुष्य जाति और पूर्ण व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पूर्ण कौशल के दो दो बुनियादी सवालों की ओर ठीक से ध्यान नहीं दिया है। कम्युनिज्म ने शोषण के अन्त के द्वारा राष्ट्रों की समानता और मानवी व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर आधारित विश्व व्यवस्था की बात जरूर की है, लेकिन ये साधारण आदर्श वैसे ही भ्रामक और निरर्थक हैं जैसे इसके पूर्व पूंजीवाद के जिसने दोषरहित स्पर्द्धा से बनने वाली विश्व व्यवस्था की बात की थी। दोनों ही सिद्धान्तों ने इन साधारण इच्छाओं को ठोस आदर्शों में बदलने की कोशिश नहीं की। सारी दुनियाँ में पूंजी को निर्माण या पूर्ण मनुष्य की अभिव्यक्ति के बारे में इन्हें कोई तर्क संगत बात नहीं कहनी।

यह कोई नई बात नहीं है। पहिले भी जब कोई सभ्यता प्रौढ़ हो जाती थी और उसका पतन समीप आ जाता था, तो अपने को फिर में जीवत करने के लिये वह बंट जाती थी। रोम और बाइजेन्टियम, कौरव और पांडव, मेमिफस और निवेवा ऐसे विभाजन की कुछ मिसालें हैं। इन बंटवारों और इनके कारण होने वाले युद्धों से हरबार सारा तत्कालीन विश्व हिल जाता था, ऐसा उस काल के लेखक और कवि कहते हैं, और इसमें काफी सचाई है। महाभारत के युग से एक बड़ी ही उपयुक्त उक्ति चली आ रही है कि पांच पांडव और सौ कौरव युद्ध में एक दूसरे का नाश करते रहे लेकिन बाहरी दुनियां से यही कहते रहे कि वे एक सौ पांच हैं। चाहे एक दूसरे के खिलाफ उन्होंने कैसा भी भीषण युद्ध किया, धृतराष्ट्र और पांडु, दोणों के ही पुत्रों ने अपनी समझ और योग्यता के अनुसार अपनी सामान्य सभ्यता की भरकस सेवा की। अटलांटिक गुट और सोवियट गुट, पूंजीवादी और कम्युनिस्ट अपनी सभ्यता की चालक शक्तियों को जीवित रखने, राष्ट्रीय पैदावार बढ़ाने और राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर रहन सहन का स्तर उठाने; खेती और कारखानों को बड़े से बड़े पैमाने पर लान के लिये विज्ञान का प्रयोग, सामा-

जिक समानता और आरामदेह घर हासिल करने, और कुल मिला कर युरोपीय सभ्यता को हमेशा के लिये कायम रखने की कोशिश कर रहे हैं। सम्पत्ति का मालिक कौन होगा, इस बारे में उनके तरीकों में फर्क है और इस फर्क के फलस्वरूप विनाशकारी भीषण युद्ध हो सकते हैं। लेकिन उनकी कोशिशों के लक्ष्य में कोई फर्क नहीं और बाहरी दुनियां के लिये वे एक सौ पाँच ही हैं। लेकिन उनके झगड़े का शोर कान फोड़ने वाला है। इससे बाहरी दुनियाँ समझने लगती है कि सार्वभौमिक मानवी सिद्धान्तों का झगड़ा है। जिनका अलग अलग ढंग से एक या दूसरा पक्ष प्रतिनिधित्व करता है। सारे इतिहास में मनुष्य के भाग्य के बहुत ही दुखद पहलुओं में से यह भी एक है। गुलामों ने अक्सर अपने मालिक की प्रति स्पर्द्धाओं और युद्धों में किराये के टट्टुओं के रूप ये नहीं बल्कि आदर्शवादियों के रूप में हिस्सा लिया है। लेकिन इसकी एक हलकी सी संभावना है कि इस बार पिछड़े हुये इलाके इस ढंग से कम्यूनिस्टों और पूंजीवादियों के झगड़े से अलग रहें कि प्रभु राष्ट्रों का एक बड़ा हिस्सा भी यह समझ ले कि नयी मानवी सभ्यता बनाने में यह झगड़ा बिलकुल निरर्थक है।

बिना संघर्ष के कभी कोई नयी चीज नहीं पैदा हुई। संघर्ष हिंसा या रक्तपात से पूर्ण हो यह जरूरी नहीं। पहिले हमेशा ऐसा होता रहा क्योंकि संघर्ष हमेशा वर्ग के अन्दरूनी बदलाव और शक्ति और समृद्धि के बाहरी क्षेत्र परिवर्तन के साथ ही हुआ वर्ग और वर्ण और क्षेत्रीय बदलावों को खतम करके मानव जाति के सामीप्य का लक्ष्य रखने वाले संघर्ष का सविनय और शान्तिपूर्ण होना जरूरी है। अन्दरूनी उद्देश्यों के लिए इस संघर्ष के रूप कुछ हद तक मिलते हैं। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रश्न है, ऐसे कोई रूप नहीं। संघर्ष के इस नये ढंग के अन्दरूनी रूपों का निरन्तर विकास और बाहरी रूपों की खोज जरूरी है। क्राँति का हमदर्दी से मेल सिविल नाफरमानी है। समूह और व्यक्ति के लिये सिविल नाफरमानी को एक स्थायी दिमागी दृष्टिकोण बनाना होगा। राष्ट्रों के बीच और हर राष्ट्र के अन्दर भी असमानता से सम्बन्ध रखने वाले बहुत बड़े बड़े अन्याय हर

रोज होते हैं और इस कारण हिंसापूर्ण संघर्ष के मुकाबले ये सिविल नाफरमानी की सफलता की कोई संभावना नहीं। जब तक कि वह एक स्थायी दृष्टिकोण न बन जाय। मनुष्य के व्यक्तित्व के किसी एक या दूसरे पहलू को अधिक से अधिक बढ़ाने के बजाय उसके सारे स्वभाव सहित उसके पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए भी उसे ऐसा हथियार देना अवश्यक है जिसके जरिये वह हर स्थिति में अपना सम्मान कायम रख सके। सिविल नाफरमानी ऐसा ही, और ऐसा अकेला हथियार है।

इतिहास का चक्र यह नहीं बताता कि उसका चलना बन्द होगा या नहीं। लेकिन एक बार फिर स्थिति आशापूर्ण है। मनुष्य इस दोराहे के सामने खड़ा है कि अधिकतम कौशल की किसी अन्य दिशा में चल पड़े अथवा पूर्ण कौशल की दशा को अपनाये। अगर वह इतिहास के चक्र को तोड़ने का फैसला करे तो उसकी नयी सभ्यता की स्थूल रूप रेखा दिखाई पड़ चुकी है। यह नई सभ्यता सारी दुनिया में लगभग बराबर पैदावार के ज़रिये मनुष्य जाति के सामीप्य और वर्ग और बर्ण तथा क्षेत्रीय बदलावों का अन्त करने की कोशिश करेगी। उसका मशीनी ढंग और प्रशासन इस आवश्यकता के अनुकुल होगा और विकेन्द्रित समुदायों तथा एक मानवता के ज़रिये लोग अपना शासन खुद ही चला सकेंगे। पैदावार के साधनों पर सामाजिक मल्कियत होगी, हालांकि न्यायपूर्ण ढंग से बांटी हुई जमीन जैसी सम्पत्ति व्यक्तिगत उपयोग में छोड़ी जा सकती है। राष्ट्र के अन्दर अधिकतम और न्यूनतम आमदनियों के सिद्धान्त पर दृढ़ता से इस प्रकार चलने से कि बराबरी बढ़े, सामीप्य का क्रम फैलेगा और अधिक गम्भीर होगा। समूह में और व्यक्तिगत रूप में मनुष्य अन्याय के खिलाफ सिविल नाफरमानी करना जानता होगा। मनुष्य कथा और इतिहास, स्थायी, और गति का मेल जानने की कोशिश करेगा और सन्तुलन के साथ संघर्ष के अपने व्यक्तित्व का विकाश करने की कोशिश करते हुए वह शान्तिमय क्रियाशीलता की अपनी नयी सभ्यता में भाग लेगा।